स्वाधीन भारत
की
प्रमुख समस्याएं

लेखक

श्री रामप्रताप गोंडल
एम० ए०, साहित्यरत्न

विद्या मन्दिर लिमिटेड
नई दिल्ली

प्रकाशक
विद्या मन्दिर लिमिटेड,
कर्नाट सरकस, नई दिल्ली।

प्रथम संस्करण
अप्रैल १९४८

× × ×

गोडल्म प्रेस,
नई दिल्ली।

विषय सूची

भूमिका

१५ अगस्त १९४७ को अकस्मात् ही भारत की बागडोर उसके अपने हाथों में आजाने के कारण वह स्वतंत्र हो गया है। उससे कुछ ही पूर्व लिखे गये अपने कुछ लेखों को मैं स्थूल रूप में वास्तविक स्थिति से किंचित् दूर पाता हूं। इस आकस्मिक परिवर्तन के कारण वे कहीं कहीं असामयिक से प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः विशेष अन्तर नहीं पड़ा। पाठक पढ़ते समय अगर इन लेखों के रचनाकाल का ध्यान रखेंगे तो जिस उद्देश्य से ये लिखे गये हैं उसे समझने में कोई अड़चन न होगी।

१५ अगस्त १९४७ को हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता तो मिली, परन्तु जिस रूप में वह मिली है उसके परिणामस्वरूप हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में जो विष उत्पन्न होगया है उसने हमारे जीवन को और भी खराब कर दिया है। हमारे सामने हमारी राजनैतिक स्वतन्त्रता ने नई राजनैतिक समस्याएं खड़ी कर दी हैं जिन पर हमें अब भारत के विभाजन के बाद नये सिरे से नये रूप में सोचने की आवश्यकता है।

१५ अगस्त १९४७ से अप्रैल १९४८ तक इतना समय नहीं

गुजरा कि जिसमें सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं की ओर ध्यान देने के लिये कोई विशेष समय सरकार को मिला हो। जो समय मिला भी है उसका भी उपयोग इसलिये नहीं किया जा सका कि अभी हम इस निर्णय पर नहीं पहुंच सके कि कौनसा मार्ग अपनाया जाए, जिससे कि हम निर्धन भारतीयों के कठोर, नीरस, उद्देश्यविहीन, परिपाटीजन्य तथा पशु-तुल्य जीवन को सरस, मानवोपयोगी और स्वशासित बना सकें।

स्वतन्त्र भारत की कांग्रेस-सरकार द्वारा विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता, अपने उचित अधिकारों की रक्षा करने के लिये पार्टियां बनाने की स्वतन्त्रता तथा अन्य व्यक्तिगत आवश्यक स्वतन्त्रता पर अब आघात होना आरम्भ होगया है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें निरंकुश शासन की ओर द्रुत गति से बढ़ रही हैं, और विरोधी शक्तियों को कुचलने में आगा-पीछा कुछ भी नहीं सोच रहीं। भारतीय प्रेस भी भीगी बिल्ली की तरह उनका साथ दे रहा है। सरकार द्वारा व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतन्त्रता पर इस प्रकार का प्रहार निश्चय ही अवांछनीय है।

स्वाधीन भारत की समस्याएं अनेकों हैं। उन सब पर इन इने-गिने दस-बारह लेखों में इससे अधिक और लिखा भी क्या जा सकता है; फिर भी मैंने यथाशक्ति जीवन के कई विभिन्न परन्तु आवश्यक अंगों पर इस पुस्तक में प्रकाश डालने का

प्रयत्न किया है। मेरा अपना विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत विकास के लिये और वातावरण (जिसमें उसके द्वारा निर्मित संस्थाएं तथा प्राकृतिक वस्तुएं वगैरह शामिल हैं) के सुधार के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये जिससे कि वह अपने जीवन को मानवोपयोगी बना सके। मानव जीवन के विकास के लिये सिद्धान्तों, आदर्शों, नियमों वगैरह का समयानुसार बदलते रहना भी परमावश्यक है ताकि जीवन के साथ साथ उसकी मांग के अनुरूप रूप वे ग्रहण करते जावें।

कई भारतीय तथा अभारतीय लेखकों का प्रभाव मेरे इन लेखों पर पड़ा है। उनका मैं इन पंक्तियों द्वारा ऋण चुका देना चाहता हूं, बशर्ते कि इस प्रकार वह चुक सके।

नई दिल्ली
५ अप्रैल १९४८

रा० प्र० गोंडल

हिन्दू-विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी कानून

मैं प्रत्येक हिन्दू-विवाह की पवित्रता को और उसके आजीवन तथा जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध को धोखा मानता हूं और साथ ही अत्यधिक पाश्चात्य वैवाहिक उच्छृंखलता को, जिसका आभास हमें समाचार-पत्रों से मिलता है, व्यक्तिगत अंधेरगर्दी। फिर भी मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दू-विवाह और आजन्म पति-पत्नी सम्बन्ध में व्यक्तिगत और सामाजिक हित निहित ही नहीं। साथ ही अधिकांश पाश्चात्य विवाह व्यक्तिगत अंधेरगर्दी ही हैं और उनमें सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप ही देखने को नहीं मिलता, यह भी सत्य नहीं। वास्तव में क्या हिन्दुओं में और क्या पाश्चात्य जातियों में ऐसे विवाहों की कमी नहीं, जिनमें पुरुष और स्त्री आजीवन साथ रहकर प्रेममय जीवन-यापन करते हुए अच्छी सन्तान को उत्पन्न कर और पाल-पोषकर व्यक्तिगत लाभ के साथ सामाजिक लाभ में भी योग देते हैं। परन्तु जब हम देखते हैं कि हिन्दू-विवाह का प्रचलित रूप और उसका आजन्म बन्धन पुरुष और स्त्री के व्यक्तिगत और

सामाजिक जीवन में अभिशाप बन रहा है और विवाहित पति-पत्नी को—विशेष कर पत्नी को—एक बार आबद्ध हो जाने पर फिर व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करने और दुबारा विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की क़ानून अनुमति नहीं देता, तो अवश्य ही ऐसे क़ानून में आवश्यक परिवर्तन की आवश्यकता है।

शिक्षा के प्रसार के साथ ही विवाह-सम्बन्ध अधिक आयु में—अर्थात् १८ साल से ऊपर—होने लग गए हैं। पढ़ी-लिखी स्त्रियों का अपना व्यक्तित्व इस उम्र में बनने लगता है। उच्च शिक्षा-प्राप्त स्त्री विवाहित होकर अपना घर अलग बनाना चाहती है। वह हर दम अपने पति को पूज्य मानकर उसकी प्रत्येक बात आंखें मूंदकर और अपने विचारों तथा भावों को दबाकर सहर्ष मानने को तैयार नहीं होती। इसमें उसके सास-ससुर और पति की ओर से रुकावटें आती हैं। चूंकि अधिकांश विवाह-सम्बन्ध लड़की व लड़के के अभिभावकों द्वारा होते हैं, उनमें पति-पत्नी का प्रेम-सम्बन्ध सर्वसर्वा बाद को बनता है, इसलिये यह सम्बन्ध नैसर्गिक रूप में नहीं बन पाता, और कई विवाह तो स्त्रियों के लिये विशेष कर भार-रूप हो जाते हैं। जहां पति दूसरा विवाह कर या स्त्री को छोड़ देने पर अपना समय दूसरे कामों में लगाकर अपना जीवन-यापन करता है, वहां स्त्री पर दुःख का भार टूट पड़ता है। पति के साथ उसके आश्रय पर रहकर वह न स्वयं सुखमय जीवन व्यतीत कर पाती है और न ही पति के जीवन में सक्रिय योग दे पाती है; अलग रहकर वह न दूसरा विवाह कर

सकती है और न ही सन्तानवती बन सकती है। हिन्दू-समाज की वर्तमान अवस्था में उसका जीवन चरित्र-सम्बन्धी नैतिकता के कठोर नियमों तथा स्त्री-जीवन-सम्बन्धी संकुचित भावनाओं के कारण भार-स्वरूप हो जाता है।

शिक्षा ने स्त्रियों के विवाह-सम्बन्धी विचारों में विशेष रूप से परिवर्तन कर दिया है। उनके लिये योग्य माताएं बनना एक सामाजिक आवश्यकता है, परन्तु प्रेममय विवाह-सम्बन्ध एक व्यक्तिगत नैसर्गिक आकांक्षा। फिर भी पति के प्रति तथा सास-ससुर के प्रति अन्धभक्ति और श्रद्धा, विवाह को ईश्वरीय आदेश, अग्नि को साक्षी समझकर संस्कृत में पण्डितों द्वारा दुहराई गई प्रतिज्ञाओं का पालन करना, योग्य शिक्षा पाकर भी घर की चहार-दीवारी में मजबूरन रहकर अपने जीवन की इतिश्री समझना आदि मानने को वे तैयार नहीं होतीं, और न इनके मानने में हिन्दू-समाज की कोई भलाई ही है। हिन्दू-विवाह-सम्बन्ध का जो रूप आजकल देखने को मिलता है, वह इस प्रकार है—जैसे एक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित पुरुष एक निहत्थी स्त्री से सम्मुख लोहा ले रहा हो। स्त्री इस बलात्कार के सामने आत्म-समर्पण के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देखती। लड़की के मां-बाप जीवन-यापन के सब अन्य मार्ग बन्दकर केवल इस युद्ध में भाग लेने के लिये उसे मजबूर कर देते हैं। इस विषम परिस्थिति के अलावा विवाह-सम्बन्ध कितना भी देख-भालकर, सोच-समझकर, स्वयं प्रेम-विवाह के रूप में या अभिभावकों द्वारा हो, उसमें विच्छेद

के अवसर आते ही हैं। आदमी एक साल, दो साल, चार साल तक अनिच्छापूर्वक काट सकता है; परन्तु मनोमालिन्य बढ़ जाने पर जीवन के ५० या ६० साल सहर्ष नहीं काटे जा सकते। इसलिये स्त्री को सदैव के लिये—आजीवन—दासता की जंजीरों में बांधकर घर की चहारदीवारी में रखना उसके व्यक्तिगत दृष्टिकोण से, उसके प्रेममयी स्त्री और एक विज्ञ माता बनने के दृष्टिकोण से तथा पुरुषों की जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से अवांच्छनीय एवं समाज के लिये अहितकर है।

विशेष-विवाह-क़ानून (Special Marriage Act) के होते हुए भी संस्कारों व अज्ञानतावश, अभिभावकों की संकीर्णता के कारण तथा लड़कियों की अपनी सौदा करने की कमजोरी के कारण वे विशेष-विवाह-क़ानून के अनुसार अभी अपने विवाह नहीं करवा पातीं। इनेगिने विवाह ही इस क़ानून के अन्तर्गत होते हैं और अधिकांश प्रचलित हिन्दू-विवाह-प्रथा के अनुसार। इसलिये विवाह-विच्छेद की अनुमति विशेष-विवाह-क़ानून के अनुसार हिन्दुओं के लिये होने पर भी कोई उच्च जाति की स्त्री अथवा पुरुष, जो विवाह-बन्धन से मुक्त होना चाहता है, उसका लाभ नहीं उठा सकता। (हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि निम्नतर जातियों में विवाह-विच्छेद की प्रथा विद्यमान है।) अतः यह नितान्त आवश्यक है कि हिन्दू-विवाह-विच्छेद के लिए एक ऐसे क़ानून का निर्माण हो, जो समस्त हिन्दू-विवाहों पर लागू हो सके।

हिन्दू-कोड का विवाह-विच्छेद-भाग, जो हिन्दू-क़ानून-सुधार-समिति द्वारा केन्द्रीय धारा-सभा में बिल के रूप में पेश किया जायगा और जिस पर कमेटी ने समस्त भारत में भ्रमण कर जनता की राय ली है, संक्षेप में इस प्रकार है: हिन्दू पति पर अपनी स्त्री के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व तब तक है, जब तक वह स्त्री उसके साथ रहती है। क़ानून की ओर से स्त्री को पति से खर्च लेकर अलग रहने की अनुमति निम्न कारणों पर दी गई है—पति किसी घृणित बीमारी का शिकार हो, पर यह बीमारी पत्नी के कारण न लगी हो; पति कोई रखैल घर में लाकर रख ले; पति स्त्री से निर्दयतापूर्ण व्यवहार करे, अर्थात उसका अपने पास रहना खतरनाक तथा अवांच्छनीय कर दे; बिना स्त्री की इच्छा के अथवा उसकी इच्छा के विपरीत उसे छोड़ दे; पति अपना धर्म बदल ले अथवा कोई और आवश्यक कारण हो।

निम्न कारणों पर विवाह नाजायज़ क़रार दिया जा सकेगा—पति विवाह के समय और प्रार्थनापत्र के समय भी नपुंसक हो; स्त्री अथवा पति में कोई भी पागल अथवा निरा मूर्ख हो; उनमें आपस में कोई नजदीकी खूनी रिश्ता निकल आया हो या वे सपिण्डों के अन्तर्गत आते हों; पहला पति या पत्नी विवाह के समय जिन्दा हो और उससे विवाह-सम्बन्ध क़ायम हो।

निम्न कारणों पर हिन्दू-विवाह-विच्छेद की डिग्री ली जा सकती है—प्रार्थना-पत्र भेजने के समय तथा उसके पूर्व ७ साल या उससे ऊपर तक इलाज करने पर भी उसका (स्त्री अथवा

पुरुष का) दिमाग़ ठीक न हुआ हो; अगर वह गलित कोढ़ की बीमारी का शिकार हो, पर यह बीमारी प्रार्थना-पत्र देने वाले से न लगी हो; बिना किसी आवश्यक कारण के प्रार्थी को सात साल से अधिक के लिये छोड़ रखा हो; धर्म बदलने के कारण हिन्दू न रहा हो; किसी ऐसी घृणित यौन-व्याधि का शिकार हो, जो सात साल से पुरानी हो, पर प्रार्थी से न लगी हो; अगर पति ने कोई रखैल रख ली हो अथवा स्त्री किसी दूसरे आदमी की रखैल हो अथवा वेश्या-वृत्ति करती हो।

जहां तक स्त्री के खर्च लेकर अलग रहने का सवाल है तथा विवाह नाजायज क़रार देने का सम्बन्ध है, हमें कोई विशेष आपत्ति नहीं; परन्तु जहां विच्छेद का प्रश्न है, वहां तीन आपत्तियां हैं :—

(१) सात साल की अवधि बहुत अधिक है। वर्तमान विज्ञान के युग में कोई भी बीमारी अगर अच्छी हो सकती है, तो साल-दो साल में ही हो सकती है। हमारे पास रेल, तार, डाक तथा यात्रा के इतने साधन हैं कि इतनी लम्बी अवधि रखने का कोई विशेष कारण समझ में नहीं आता—सिवाय इसके कि हिन्दू-शास्त्रों में चार साल से आठ साल की अवधि लिखी है। अगर एक मुस्लिम स्त्री चार साल तक पति के लापता रहने अथवा पति द्वारा दो साल तक उसे छोड़ देने अथवा पति को सात साल से ऊपर जेल होने अथवा पति के दो साल से पागल होने या कोढ़ अथवा प्रमेह वग़ैरह की बीमारी होने अथवा संरक्षक द्वारा पन्द्रह साल की

उम्र से पहले शादी कर देने पर विवाह-विच्छेद की डिग्री ले सकती है, तो हिन्दू-स्त्री के लिये सात साल की अवधि क्यों? एक पुरुष के लिये सात साल की अवधि का इतना अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वह सहज में ही किसी अन्य स्त्री से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। उसे प्रचलित सामाजिक नियमों के अनुसार अनुमति है। उसके पास इसके लिए पर्याप्त साधन रहते हैं। परन्तु इसके विपरीत स्त्री प्रचलित नियमों के आधार पर तथा अपनी आर्थिक और शारीरिक कमजोरी के कारण (अवैध सन्तान होने के डर से) कोई भी ऐसा सम्बन्ध निर्भय होकर स्थापित नहीं कर सकती। या तो हिन्दू स्त्रियों के प्रार्थना-पत्र का आधार भी मुस्लिम-स्त्रियों के आधार पर होना चाहिए और पुरुषों के लिये सात साल की अवधि रहने दी जाय, या फिर यह ७ साल की अवधि तीन साल या उससे भी कम रखी जाय।

(२) अगर मुस्लिम-स्त्री विवाह-विच्छेद पति के निर्दयतापूर्ण व्यवहार—अर्थात हमेशा स्त्री को पीटना या उसके जीवन को अपने व्यवहार द्वारा दुखी बनाना, भले ही वह शारीरिक कष्ट न हो; पति का बदचलन औरतों से मिलना-जुलना या चरित्रहीन जीवन व्यतीत करना; अपनी स्त्री को चरित्रहीन जीवन व्यतीत करने को मजबूर करना; उसकी धार्मिक भावनाओं में बाधा पहुँचाना आदि—के कारण कर सकती है, तो एक हिन्दू-स्त्री क्यों नहीं? मेरा अपना विचार है कि विवाह-विच्छेद के उपर्युक्त छः कारणों के अतिरिक्त सातवां कारण 'अगर पति अपनी स्त्री से

निर्दयतापूर्ण (शारीरिक तथा मानसिक) व्यवहार करता है अर्थात उसके लिए अपने पास रखना खतरनाक अथवा अवांछनीय कर देता है,' अवश्य होना चाहिए। यह कारण ऐसा है, कि जिसके आधार पर न्यायाधीश पीड़ित प्रार्थी की रक्षा कर सकता है।

(३) इस विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी बिल के आधार पर एक स्त्री, जिसका विवाह इस क़ानून के बनने से पूर्व हो चुका है, अपने नपुंसक पति से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करवा सकती। इस बिल के पास होने के बाद जो विवाह होंगे, वे ही नाजायज हो सकेंगे, ऐसा विधान इस बिल में है। अतः यह आवश्यक है कि विवाह-विच्छेद के लिये आठवां कारण नपुंसकता होना चाहिए।

मैं स्वयं यह मानता हूं कि विवाह-विच्छेद का कानून इस आधार पर बनना चाहिये :—

(१) विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी क़ानून के मुकदमे एक विशेष न्यायाधीश पर जाने चाहिए। साधारण न्यायाधीशों के सामने खुल्लमखुल्ला इनकी पैरवी नहीं होनी चाहिए। कम से कम विज्ञापन इन मुकदमों को मिले।

(२) विवाह-विच्छेद की अनुमति (विशेष कर स्त्रियों को) सरलता से (क़ानून की दृष्टि से) ही मिल जानी चाहिए। व्यर्थ के झगड़े, छानबीन, दोषी सिद्ध करने की आवश्यकता, वकीलों की पैरवी, सब अनावश्यक से सिद्ध कर दिये जायं।

(३) पति-पत्नी को, दोनों की ओर से प्रार्थना-पत्र होने पर,

अथवा स्त्री की ओर से किसी आवश्यक कारण के होने पर, प्रथम अवस्था में एक वर्ष अलग रहने की अनुमति देकर उसके बाद फिर सम्बन्ध-विच्छेद क़रार दे दिया जाय। इस एक वर्ष के समय में अगर वे अपने झगड़े निपटाकर पति-पत्नी बनकर रहना चाहें तो उनके रास्ते में कोई रुकावट क़ानूनन नहीं आनी चाहिये।

(४) सम्बन्ध-विच्छेद के उन मुक़दमों में जहां सन्तानों का प्रश्न सम्मुख आवे उनमें छोटे-छोटे बच्चे तो माता के साथ ही जाने चाहिएं। शेष जो पढ़ते हैं अथवा नौ-दस वर्ष से ऊपर की आयु के हैं, उनका परिस्थिति-विशेष के आधार पर निर्णय होना चाहिये।

(५) अगर न्यायाधीश यह समझता है कि पति अपनी पत्नी को निकालने का दोषी है और वह इस स्थिति में है कि वह स्त्री और बच्चों के ख़र्च के लिए रुपया दे सकता है, तो विच्छेद की शर्त में माता तथा बच्चों के भरण-पोषण की व्यवस्था भी होनी चाहिए। स्त्री को एक निश्चित रकम, जो उसकी आवश्यकतानुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती है, सरकार की ओर से मासिक रूप में मिलनी चाहिए और सरकार उसके पति से वह रकम वसूल करती रहे। जहां यह सम्भव नहीं, वहां स्त्री के माता-पिता या अन्य सगे-सम्बन्धियों पर उसका भार डालना चाहिये। अगर कहीं भी कोई प्रबन्ध नहीं हो पाता, तो सरकार को अपने कोष से उसका प्रबन्ध करना चाहिये। ऐसी स्थिति कभी-कभी ही पैदा होगी। बच्चों के पालन-पोषण का भार समाज

पर ही पड़ना चाहिए। यूरोपीय देशों में इस ओर बड़ा जोरदार प्रयत्न किया जा रहा है। बर्नार्ड शा का तो यहां तक कहना है कि वे पति-पत्नी जो स्वयं निःसन्तान रहते हैं, दूसरों के बच्चों को पालने के लिये इतने ही जिम्मेवार हैं, जितने कि अपने। अगर अन्य लोग भी बच्चे पैदा न करें, तो देश की रक्षा शत्रुओं से किस प्रकार हो सकती है तथा किस प्रकार देश का काम चल सकता है ?

विवाह-विच्छेद के विरोधी हमारे समाज में अधिक देखने में आते हैं। उनके विरोध के कई कारण हैं। अपनी अज्ञानतावश वे कोई भी नई बात पसन्द नहीं करते, इसलिए यह विधान भी नहीं चाहते। स्त्रियों को अपने स्वार्थ के लिए वे सदैव ही अन्धकार और दासता की स्थिति में रखना चाहते हैं। अपने अनुचित अधिकारों को वे सहज में छोड़ना नहीं चाहते। क़ानून का रास्ता खुल जाने पर, सम्भव है, वे विज्ञापन तथा अपनी बेइज्जती से डरते हों। कई इस क़ानून में पारिवारिक प्रथा के नष्ट-भ्रष्ट होने के कीटाणु पाते हैं। दूसरे देशों के एकांगी समाचारों के आधार पर वे सोचते हैं कि विवाह एक खिलवाड़ हो जायगा और सन्तान-पालन वग़ैरह अच्छी प्रकार से नहीं हो सकेगा। इसके अलावा अन्य और भी कई कारण हो सकते हैं। कुछ ऐसे हैं, जिनमें कुछ सचाई भी है, बाक़ी सारहीन और भ्रममूलक। इतना तो प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि प्रत्येक विधान, रिवाज और प्रथा के अच्छे-बुरे दोनों पहलू होते हैं।

कोई चीज़ ऐसी नहीं, जो शतांश अच्छी या बुरी हो। विवाह-विच्छेद से, सम्भव है, कुछ छोटी-मोटी बुराइयां भी आवें; परन्तु यथासम्भव क़ानून को अनुभव के आधार पर धीरे-धीरे ठीक बनाया जा सकता है।

यह भी एक निर्भ्रान्त धारणा है कि विच्छेद की अनुमति मिलते ही, और वह भी सहज में ही, हर आदमी विच्छेद प्राप्त करने की ओर दौड़ेगा। वास्तविक स्थिति इससे भिन्न होगी। विच्छेद की अनुमति क़ानूनन मिलते ही लोग केवल अन्तिम अवस्था में ही उस दरवाज़े तक पहुंचेंगे। जहां एक छोटी सी वस्तु का वियोग भी असहनीय हो जाता है, वहां पति-पत्नी-सम्बन्ध तोड़ना भी प्रत्येक इतना आसान नहीं पाएगा। विवाह-सम्बन्ध देख-भालकर, सोच समझकर, स्थापित करने पर विच्छेद के वैसे ही कम अवसर आयेंगे। फिर एक सम्बन्ध का वज़न इतना हो जाता है कि मनुष्य स्वभावतः उसे बनाए ही रखना चाहता है, नवीन सम्बन्ध अथवा नवीन जीवन की ओर शीघ्र नहीं बढ़ता। उसे आशंका ही बनी रहती है। इसलिये वे ही पति-पत्नी इससे लाभ उठाना चाहेंगे, जो अपने दाम्पत्य-जीवन से सर्वथा ऊब चुके हैं, जिन्हें प्रत्येक स्थिति इससे अच्छी मालूम होगी। विवाह-विच्छेद से हिन्दू-समाज के नष्ट होने की आवाज़ सती-प्रथा को हटाने के समय तथा शारदा-एक्ट पास होने पर भी उठाई गई थी। परन्तु हिन्दू-समाज या पारिवारिक प्रथा अभी तक तो नष्ट हुई नहीं। खेद है कि हम सब लोग इतिहास के विद्यार्थी नहीं,

इसलिए इन प्रतिक्रियाओं के निरर्थक होने को भूल जाते हैं।

विवाह-विच्छेद का क़ानून + बड़ौदा-राज्य में १९३१ में पास हुआ था। १९४३ तक—अर्थात् गत ११ साल में—५१४ मुकदमे विवाह-सम्बन्धी आए, जिनमें ४५ सन् १९४३ में आए। इनमें ४३७ विच्छेद के लिए, २७ न्यायानुकूल अलग होने के लिए, ७ अलग मकान लेकर रहने के लिए, ५ विवाह ग़ैरक़ानूनी क़रार देने के लिए तथा ३८ पुनः विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आए। सम्बन्ध-विच्छेद अधिकांश पति की निर्दयता, शराबखोरी और स्त्री के घर से निकाल देने के लिए किया गया। इस सम्बन्ध में प्रकाशित बड़ौदा की रिपोर्ट से यह भी पता चलता है कि जिन जातियों में विवाह-विच्छेद की प्रथा नहीं है, उन जातियों के लोग इससे बहुत कम लाभ उठा रहे हैं, यद्यपि यह क़ानून विशेष तौर पर उन्हीं के लिए बनाया गया है। इन जातियों के केवल ३७ व्यक्तियों ने अभी तक इस क़ानून से लाभ उठाया है। यह उदासीनता प्रचलित रिवाज तथा परम्परागत अन्धविश्वास के कारण है, न कि क़ानून-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण। इन वर्षों में इस क़ानून का इन लोगों ने मुकाबले में अधिक आश्रय लिया है, अर्थात् आरम्भिक पांच वर्षों में जहां केवल ७ मुकदमे आए, वहां गत पांच वर्षों में २६।

+ बम्बई प्रान्त में अभी हाल में ही हिन्दू-विवाह-विच्छेद कानून पास हो गया है।

इस तरह अगर बड़ौदा-राज्य में १३–१४ साल के अर्से में विवाह-विच्छेद के इतने कम मुकदमे आए, तो इससे यह सहज ही अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था के नष्ट होने की धारणा निर्मूल है। विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी कानून के पास होने से लाभ यह होगा कि एक समयानुकूल क़ानून बन जायगा और हिन्दू-विवाह-प्रथा में जो क़ानूनी ख़ामियां हैं, वे ठीक हो जायंगी; स्त्रियों और पुरुषों में जो विवाह-सम्बन्धी असमानता पाई जाती है, वह क़ानून की दृष्टि में दूर हो जायगी; शिक्षित स्त्री-पुरुषों का बढ़ता हुआ असन्तोष दूर हो सकेगा तथा जो पति-पत्नी विच्छेद में ही अपने भावी जीवन का विकास देखते हैं, उन्हें उसके लिए क़ानून की ओर से पर्याप्त सुविधा मिल सकेगी।

हिन्दू-लॉ-कमेटी ने भारतवर्ष में भ्रमण कर विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं, सनातनी पण्डितों, वकीलों, प्रोफेसरों तथा न्यायाधीशों की सम्मतियां ली हैं। परन्तु केवल समाज-विज्ञान के प्रोफ़ेसरों, हिन्दू-लॉ के वकीलों, हाईकोर्ट के न्यायाधीशों और योग्य तथा अनुभवी हिन्दू-समाज-सुधारकों की सम्मतियों के आधार पर ही कमेटी को बिल + का संशोधन कर उसे केन्द्रीय-धारा-सभा में यथा-

+ केन्द्रीय सरकार द्वारा हिन्दू-विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी कानून जो बनाया जाय वह सब प्रान्तों में लागू होना चाहिये। विभिन्न प्रान्तों को इस सम्बन्ध में अलग अलग कानून बनाने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिये।

शीघ्र पेश करना चाहिये। केन्द्रीय-धारा-सभा अगर किसी कारण से इसे क़ानून का रूप देने में आगा-पीछा करे, तो गवर्नर-जनरल का अपने विशेष अधिकारों को प्रयोग करना भी अनुचित नहीं। हिन्दू-धार्मिक अधिकारों में हस्ताक्षेप जब समाज-विशेष और क़ानून की दृष्टि से आवश्यक है, तो इसकी ओर से सरकार की उदासीनता शिक्षित समाज को असहनीय होती जा रही है +।

× विशाल भारत, नवम्बर १९४५ में प्रकाशित

भारत की जनसंख्या में वृद्धि और उसके दुष्परिणाम

जन-संख्या में वृद्धि अन्य देशों में भी हो रही है और भारतवर्ष में भी। नीचे आबादी के जो आंकड़े करोड़ों में दिए गए हैं, उनसे इस वृद्धि का आनुपातिक पता लगेगा :—

साल	१६५०	१७५०	१८००	१८५०	१९००	१९३३
एशिया	३३.०	४७.९	६०.२	७४.९	९३.७	११२.१
यूरोप	१०.०	१४.०	१८.७	२६.६	४०.१	५१.९
सारी दुनिया	५४.५	७२.८	९०.६	११७.१	१६०.८	२०५.७

साल	१६००	१७५०	१८५०	१९०१	१९११	१९२१	१९३१	१९४१
भारत	१०.०	१३.०	१५.०	२९.४	३१.५	३१.९	३५.३	३९.०

इन आंकड़ों को देखने से पता लगता है कि जिस अनुपात में दूसरे देशों में वृद्धि हुई है, लगभग उसी अनुपात में भारत में भी हुई है। जहां तक दूसरे देशों के मुकाबले का प्रश्न है, हमारी जनसंख्या की वृद्धि अधिक नहीं है, इसलिए अन्य देश-वासी हम पर यह दोषारोपण नहीं कर सकते। परन्तु हमें यह तो देखना ही चाहिए कि इस वृद्धि और इतनी जन-संख्या का हमारे

जीवन पर क्या प्रभाव पड़ रहा रहा है ? यूरोप व अमरीका के अधिकांश देशों में जनसंख्या में वृद्धि और उनके जीवन-स्तर में उन्नति साथ-साथ हुई है। वे स्वस्थ हैं; उनमें अकाल मृत्यु कम है; वे हमारी तरह भूखों नहीं मरते; वे दीर्घायु होते हैं; उनके यहां अकाल इतने नहीं पड़ते; पूरा खाना न मिलने के कारण जो बीमारियां आती हैं, उनके वे शिकार नहीं होते; बेकारी उनके यहां कम देखने में आती है और उनकी आर्थिक उन्नति पर्याप्त हो रही है। तात्पर्य यह है कि उनकी बढ़ती हुई जनसंख्या में वे बुराइयां नहीं दृष्टिगोचर होतीं, जो हमारे यहां देखने में आती हैं और जिन्हें अत्यधिक जनसंख्या की बुराइयां कहा जाता है।

हमारे देशवासियों का जीवन-स्तर कितना नीचा है, यह किसी से छिपा नहीं है। केवल कुछ-एक अमीरों और मध्यम-वर्ग के परिवारों को छोड़कर अधिकांश मध्यम-वर्ग व निम्न-वर्ग के लोग अपना जीवन जिस-किस तरह कर के ही काटते हैं। हमारे देश में प्रति व्यक्ति की औसत सालाना आय सन् १९३१ में दूसरे देशों के मुकाबले में इस प्रकार थी :—

अमरीका	१४०६)	फ्रांस	६२१)
कनाडा	१०३८)	जर्मनी	६०३)
ब्रिटेन	९८०)	जापान	२१८)
आस्ट्रेलिया	७९२)	भारतवर्ष	६५)

जब १९३१ में हमारी औसत सालाना आय प्रति व्यक्ति ६५) थी, जापान की औसत आय प्रति व्यक्ति २१८) अर्थात् हमारी

औसत आय से तिगुनी से भी अधिक थी। जापान का जीवन-स्तर २१८) आय होने पर भी उन दिनों, जब वह अपनी उत्पादन की शक्ति काफ़ी बढ़ा चुका था, इतना अच्छा नहीं कहा जा सकता था और साधारण ही माना जाता था। जापान के बच्चे से लेकर बूढ़े तक—स्त्री और पुरुष—प्रत्येक को उत्पादन-कार्य में योग देना पड़ता था। ६५) रु० वार्षिक औसत आय पर भारतीय जीवन का यथार्थ रूप देखने के लिए मजदूरों और किसानों की अवस्था देखना जरूरी है। हमारी ९० फी-सदी जनसंख्या के, जो गावों में रहती है, जीवन-स्तर को देखकर ६५) में जो बन पड़ता है, उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि महायुद्ध के कारण हमारी औसत आय में वृद्धि हुई है और भारत की आर्थिक अवस्था १९३८-३९ से कुछ सुधर गई है। हमें जो अरबों रुपयों का दूसरे देशों का कर्ज़ देना था, वह निबट गया है और अब हमारा कर्ज़ ब्रिटेन पर हो गया है। यद्यपि इस काल में जन-संख्या में भी वृद्धि हुई है, परन्तु किस अनुपात से—जीवन-स्तर या उत्पादन को लेकर—यह आंकड़ों से पता लग सकता है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हमारी औसत आय इन दिनों बढ़ी ही होगी, और यह वृद्धि रुपए की क़ीमत घटने के कारण ही नहीं, बल्कि वास्तव में १९३१ की कीमतों की दरों को लेकर और रुपए की कीमत उस आधार पर लेकर भी हुई होगी। युद्ध-काल में उत्पादन भी बढ़ा है और औसत आय भी। परन्तु बंटवारा जिस

रूप में हुआ है, उससे यह पता लगता है कि जनता की अत्यावश्यक भोजन और कपड़े की मांग भी पूरी नहीं हुई। इस दृष्टि से हमारा जीवन-स्तर अधिकांश जनता के दृष्टिकोण को लेते हुए गिरा ही है। लोगों के हाथ में रुपया बढ़ा, परन्तु उनकी जीवनोपयोगी आवश्यकताएं पूरी नहीं हुईं। इंग्लैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों में भी यही बात हुई। कई देशों—जैसे चीन, हंगरी ग्रीस आदि—की सरकारों ने इतना अधिक कागजी सिक्का बनाया कि उनके सिक्के की क़ीमत बहुत कम हो गई। वस्तुओं की क़ीमतें अत्यधिक बढ़ गईं और लोगों की निर्वाह-सम्बन्धी कठनाइयां भी इसी प्रकार बढ़ गईं। भारत-सरकार ने भी काग़जी सिक्का काफ़ी बढ़ाया और रुपए की क़ीमत लगभग चार आना रह गई।

जीवन-स्तर का आधार व्यक्ति की कुछ अनिवार्य आवश्यकताएं तो माननी ही पड़ेंगी। ये आवश्यकताएं भोजन, वस्त्र, रहने को घर, शिक्षा और स्वास्थ्य हैं। यद्यपि एक व्यक्ति इन पर तथा उपभोग की अन्य वस्तुओं पर आवश्यकता से काफ़ी अधिक खर्च कर सकता है और उसी के मुताबिक उसका जीवन-स्तर माना जायगा, जैसा कि दूसरे देशों के ऊपर दिये गए आंकड़ों से पता लगता है; परन्तु व्यक्ति का जीवन क़ायम रखने के लिए निश्चित मात्रा में भोजन, वस्त्र, रिहायश, शिक्षा और औषध वग़ैरह की भी जरूरत रहती है।

भोजन

हमारे यहां के खाद्य-विशेषज्ञों ने भोजन की कम से कम मात्रा एक व्यक्ति के लिए एक दिन में यों निश्चित की है:—

अनाज	८ छटांक	फल	१ छटांक
दालें	१॥ ,,	चिकनाई व तेल	३/४ ,,
चीनी	१ ,,	दूध	४ ,,
सब्जियां	३ ,,	या मांस, मछली, अंडे	१॥ ,,

इतना भोजन प्राप्त करने के लिए युद्ध-काल से पहले एक व्यक्ति को लगभग ६५) सालाना खर्च करना पड़ता था। बच्चों के लिए इससे कुछ कम की जरूरत पड़ती थी।

वस्त्र

वस्त्रों की आवश्यकता जलवायु, लोगों की आदत और आय पर निर्भर करती है। विभिन्न देशों में १६२६ में सूती कपड़ा प्रति व्यक्ति जो खर्च हुआ है वह इस प्रकार था:—

अमरीका	६४.० गज	जापान	२१.४ गज
कनाडा	६७.७ ,,	मिस्र	१६.१ ,,
स्वीडन	३६.० ,,	ब्रेजील	१८.६ ,,
जर्मनी	३४.० ,,	इराक	१६.६ ,,
मलाया	३०.६ ,,	भारत	१६.१ ,,
डेन्मार्क	३०.० ,,	ग्रीस	१५.० ,,

इन आंकड़ों के आधार पर राष्ट्रीय-योजना-समिति ने औसत प्रति

व्यक्ति ३० गज रखा है। १६ गज जो हमारे यहां औसत प्रति व्यक्ति के पीछे खर्च है, उसमें हमारे यहां के किसान, मजदूर और अन्य निम्न-वर्ग के लोग शामिल हैं, जो कपड़ा केवल आवश्यक अंग ढकने के लिए ही इस्तेमाल करते हैं। ३० गज सूती कपड़े पर चार आने गज के हिसाब से लगभग ७॥) खर्च बैठता है।

मकान

गर्मी, सर्दी, बारिश तथा अन्य व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं को देखते हुए रहने के लिए मकानों की आवश्यकता पड़ती है। एक व्यक्ति को ३०० घन फुट ताजी हवा की प्रति घण्टा आवश्यकता होती है। इस आधार पर लगभग १०० वर्ग फुट जगह की एक आदमी को जरूरत पड़ती है। यह कम से कम जगह है, जिसका आधार व्यक्ति की भौतिक आवश्यकता है, सामाजिक नहीं। सामाजिक आवश्यकता इससे भी अधिक रहती है; क्योंकि शादी-विवाह, महमानदारी, शिक्षा-दीक्षा, पूजा-पाठ के लिये भी जगह की जरूरत होती है।

१६४१ के आधार पर मकानों की संख्या ७ करोड़ ६० लाख थी, जिसमें शहरों में १ करोड़ और गांवों में ६ करोड़ ६० लाख थे। १६३१ में जहां प्रत्येक मकान में औसतन ५ व्यक्ति रहते थे, वहां १६४१ में ५.१ व्यक्तियों का औसत था। यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि एक व्यक्ति को औसतन कितनी जगह

मिल रही है ; परन्तु बम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ता तथा अन्य बड़े शहरों को देखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि जितनी जगह एक निम्न-वर्ग के परिवार को मिलती है, वह एक परिवार की अपनी आवश्यकताओं के लिये इतनी कम है कि अगर उस परिवार की आवश्यकता के लिये पशु रखे जायं तो उनके लिए भी पर्याप्त नहीं। बम्बई प्रान्त में, १९३८ में जहां मिलें व बड़े-बड़े कारखाने हैं, वहां प्रति व्यक्ति पीछे रकबा बम्बई में २७.५८ अहमदाबाद में ४३.०४ और शोलापुर में २४.०३ वर्ग-फुट था। मकानों के बनवाने के खर्च को छोड़कर अगर हम उनकी अच्छी हालत में रखने का सालाना खर्च ही गिनते हैं, तो वह २५८ करोड़ रुपया बैठता है, अर्थात् प्रति व्यक्ति पीछे लगभग ६) खर्च बैठता है।

स्वास्थ्य

इसमें सन्देह नहीं कि खाने, पहनने, और रहने की आवश्यकताएं अच्छी तरह पूरी होने पर स्वास्थ्य-सम्बन्धी वस्तुओं पर अधिक खर्च करने की जरूरत नहीं रह जाती। फिर भी आदमी बीमार होता ही है। स्त्रियों के बच्चे होते समय नर्स, डाक्टर वगैरह की जरूरत पड़ती ही है। काम करते हुए चोटें आती हैं। इसी प्रकार की दैनिक आवश्यकताएं तथा कभी कभी महामारियों के कोप से मनुष्यों की रक्षा करने की जरूरत पड़ती है। साथ ही स्वास्थ्य-सम्बन्धी आवश्यक बातों पर खर्च करना पड़ता है। स्वास्थ्य-सम्बन्धी आवश्यक खर्च का आधार इन चार

बातों पर लगाया गया है—(१) शहरों तथा गांवों में पानी तथा सफ़ाई का उचित प्रबन्ध, (२) प्रत्येक गांव में एक औषधालय, (३) शहरों तथा कस्बों में आम अस्पताल तथा जनाने अस्पताल, (४) क्षय, कैन्सर, कोढ़ तथा दूषित बीमारियों के लिये विशेष अस्पताल। इन पर जो कम से कम खर्च का अन्दाज़ किया गया है, वह सालाना खर्च के रूप में १८५ करोड़ और आरम्भिक लागत के रूप में २८१ करोड़ होगा।

शिक्षा

भारत अशिक्षा-प्रधान देश है। यहां पांच वर्ष से ऊपर जो शिक्षित पाए जाते हैं, उनका औसत १४.६ प्रति शत है। अन्य उन्नतशील देशों में यह संख्या ८० प्रति शत तक है। जब तक भारत की जनता शिक्षित नहीं होती, यहां की ग़रीबी दूर करना आसान काम नहीं। आरम्भिक शिक्षा के लिए प्रत्येक गांव में एक प्राइमरी स्कूल होना चाहिए और कस्बे में जन-संख्या के आधार पर, परन्तु कम से कम ५ वीं कक्षा तक शिक्षा दी जाय। उनके खर्च की सालाना रक़म ८२ करोड़ और आरम्भिक लागत ८६ करोड़ आंकी गई है। ११ से ५० साल की उम्र वाले अशिक्षितों की शिक्षा का भी प्रबन्ध करना आवश्यक है। इस पर ६६ करोड़ खर्च गिना गया है।

खाने, पहनने, रहने, स्वास्थ्य और शिक्षा पर आत्यावश्यक खर्च जो पूंजीवादी योजना में बतलाया गया है, वह इस प्रकार

है (ऊपर हम खर्च की जो रकमें स्थान-स्थान पर देते आए हैं, वे भी इसी आधार पर हैं):—

भोजन पर खर्च	२,१००	करोड़
कपड़ों पर खर्च	२६०	,,
मकानों पर सालाना लागत	२६०	,,
स्वास्थ्य और औषध पर सालाना लागत	१९०	,,
आरम्भिक शिक्षा पर सालाना	९०	,,

इस प्रकार पूंजीवादी योजना सालाना खर्च के रूप में २९०० करोड़ की लागत बतलाती है। इसके अनुसार ७४) प्रति व्यक्ति का सालाना औसत खर्च पड़ता है। यह खर्च युद्ध-काल से पूर्व की वस्तुओं की दरों के आधार पर है, जो प्रति व्यक्ति पर खर्च होना ही चाहिए। इसमें उच्च-वर्ग और मध्यम-वर्ग पर भी इतना ही सालाना खर्च माना गया है। वर्ग-विशेष के अनुसार घटाने-बढ़ाने की इसमें गुंजाइश नहीं। यह नितान्त आवश्यक है, जिस पर जीवन क़ायम रखा जा सकता है। जीवन की भौतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं को देखते हुए हम समझते हैं कि हमारी औसत आय अगर अधिक नहीं तो जापान की औसत आय के बराबर तो होनी ही चाहिये। हमारे जीवन-स्तर का आधार (१९३१ की दरों के आधार पर) लगभग २१८)रु०—उस समय की औसत ६५) से लगभग चारगुना —प्रति व्यक्ति सालाना होना चाहिए। अब से चौगुना होने पर भी हमारा जीवन-स्तर अन्य उन्नतिशील देशों के मुकाबले में

चौथा हिस्सा ही रहता है, जैसा कि ऊपर दिया गया है कि जर्मनी की औसत आय ६०३) रु० है और ब्रिटेन की ६८०)।

इस बढ़ती हुई जन-संख्या का जो दुष्परिणाम हमारे जीवन पर हो रहा है वह स्पष्ट ही है। हमारी औसत आय हमें एक वक्त के भोजन के लिये भी पर्याप्त नहीं। किसानों व निम्न-वर्ग के लोगों को दो बार भर पेट भोजन मिलना तो अलग रहा, एक बार भी मिल सके, तो उसे ग़नीमत समझना चाहिए। पहनने के लिये सूती कपड़ा औसतन १६ गज हमारे हिस्से में आता है। हम देखते हैं कि किसानों व मज़दूरों के बच्चे ८–६ साल की उम्र तक बिलकुल नंगे फिरते हैं। किसान व मजदूर स्वयं भी आवश्यक अंग ढकने लायक कपड़े ही खरीद पाते हैं। रहने के लिये देखने में आता है कि दो-दो तीन-तीन परिवार केवल १०×१० फुट के कमरे में गुज़ारा करते हैं। शहरों की मज़दूरों की चॉलों के देखने से उनके रहने की जगह का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। कितनी दुर्गन्धयुक्त जगह वह रहती है। यही हालत स्वास्थ्य और शिक्षा की है। हमारे जीवित रहने की आयु का औसत इस प्रकार है:—

देश	पुरुष	स्त्री
कनाडा	५८.६६ वर्ष	६०.७३ वर्ष
अमरीका	६०.६० ,,	६४.५० ,,
जर्मनी	५६.८६ ,,	६२.८१ ,,
ब्रिटेन	६०.१८ ,,	६४.४० ,,

देश	पुरुष	स्त्री	वर्ष
आस्ट्रेलिया	६३.४८ ,,	६७.४२	,,
जापान	४६.९२ ,,	४९.६३	,,
भारत	२६.९६ ,,	२६.५६	,,

हमारी निर्धनता उस सीमा पर पहुँच चुकी है, जिसके लिये कई वर्षों के सतत् प्रयत्न की आवश्यकता है। ग़रीबी का यह कोढ़ तो हमारे साथ ही है, उस पर यहां पर प्रति १० वें—१५ वें साल अकाल के कारण लाखों आदमी मौत के मुंह में चले जाते हैं। १९४३ का बंगाल का अकाल तो अभी २-३ साल की ही बात है, जिसमें ३० से ५० लाख तक व्यक्ति अन्न न मिलने के कारण मर गए। जो बचे, उनका स्वास्थ्य सदैव के लिए गिर गया। बंगाल के साथ-साथ मद्रास और ट्रावनकोर में भी भूख के कारण कुछ मौतें हुईं। अब १९४६ में भी अन्न की कमी के कारण अकाल की-सी हालत होती जाती है। मारवाड़ में अन्न की कमी अभी से पड़ रही है। अगर अन्य देशों से खाद्य-पदार्थ विशेष मात्रा में न आए, तो समस्त भारत अकाल में जकड़ जायगा और जन-संख्या की जो हानि होगी, उसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता।

अकाल के बाद अधिक मृत्यु का कारण हैजा, प्लेग, मलेरिया तथा इसी प्रकार की अन्य बीमारियां हैं। जब भी इस प्रकार की बीमारियां—भारत के किसी न किसी भाग में सदैव विद्यमान रहती ही हैं—आती हैं, हजारों की संख्या में निर्धनों को मौत का

दरवाज़ा दिखा और लाखों के स्वास्थ्य को वर्षों के लिये विकृत कर जाती हैं।

अकाल और बीमारियों के कारण हमारी जन-संख्या का जो ह्रास होता है तथा स्वास्थ्य में हानि होती है, उससे अधिक दयनीय दशा जो देखने में आती है वह है बेकारी के कारण। १६४० में हमारे यहां १५ से ५० साल की आयु के १७.५ करोड़ आदमी थे, जो काम करने के योग्य थे। इनमें से लगभग ३० लाख ऐसे थे, जो पूरे साल के लिये काम पर लगे हुए थे। बाक़ी के पास साल भर के लिए काम नहीं था। कितने ही इनमें ऐसे थे, जिनके पास काम बिलकुल नहीं था, और जो दूसरों की कमाई पर निर्भर करते थे।

बेकारी हमारे यहां दो तरह की देखने में आती है। प्रथम तो यह कि जितनी हमारी आबादी है, उस हिसाब से लोगों के करने के लिए काम नहीं हैं। काम से हमारा आशय उस श्रम से है, जिसकी एवज़ में मज़दूरी रुपए-पैसे के रूप में मिलती है। युद्ध-काल में अवश्य बहुत-कुछ इस तरह की बेकारी जाती रही थी, परन्तु साल-दो साल में फिर बेकारी ज़ोरों पर हो जायेगी। बेकारी का दूसरा रूप वह है जिसमें दिन-भर के लिए आदमी के पास काम नहीं होता। यह विशेष कर हमारे यहां के किसानों में देखने में आती है। किसानों के पास खेती करने के बाद जो समय बचता है, उसमें करने के लिये कोई काम नहीं रहता। खेती पर काम लगातार साल भर नहीं रहता। साल में अगर

प्रति दिन ८ घंटे काम करने का समय मान लिया जाय, तो ३-४ महीने से अधिक का काम किसानों के पास नहीं रहता। उनके खेत भी बाप-बेटे में बंटते हुए इतने छोटे रह गये हैं कि आर्थिक दृष्टि से उन्हें उपयुक्त नहीं माना गया है। छोटे-छोटे खेत होने के कारण भी बेकारी बनी रहती है। अगर किसानों के छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर एक परिवार के लिए आवश्यक रक़बे के बना दिए जायं तो कई किसान खेतों से अलग हो जायंगे, जिन्हें अन्य काम पर लगाना आवश्यक होगा।

दूसरे उन्नतिशील देशों के मुकाबले में हमारी जन-संख्या, उपर्युक्त कारणों से कम होते रहने पर भी, सालों-साल बढ़ रही है। पिछले ९-१० सालों में भारत की जन-संख्या ५ करोड़ के लगभग बढ़ी है, जिसका औसत प्रति वर्ष ५० लाख पड़ता है। अन्य देशों में इन कारणों से जन-संख्या में कमी कम ही पाई जाती है। यूरोप में गत महायुद्ध में और इस महायुद्ध में भी काफ़ी आदमी मारे गये; पर अकाल, बीमारियों वगैरह के कारण उनकी मृत्यु-संख्या बहुत कम रही। वहां की जन-संख्या में वृद्धि प्रति परिवार में अधिक बच्चे होने के कारण नहीं, बल्कि मृत्यु की दर कम होने के कारण हुई। नीचे दिये गये आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जायगा:—

	पैदाइश व मृत्यु (प्रति हज़ार)		१ साल से कम आयु के जीवित पैदा होने वाले बच्चों की मृत्यु (प्रति हज़ार)
	पैदाइश	मृत्यु	
कनाडा	२०.३	६.६	६१
अमरीका	१७.३	१०.६	४८
जर्मनी	२०.३	१२.३	६०
ब्रिटेन	१५.३	१२.३	५३
आस्ट्रेलिया	१७.७	६.६	३८
जापान	२७.०	१७.६	११४
भारत	३३.०	२१.८	१६७

उपर्युक्त आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि अगर अमरीका, इंग्लैंड, फ्रांस वगैरह में हमारी तादाद में ही बच्चे पैदा होते, तो अवश्य ही उनकी जन-संख्या में वृद्धि अधिक देखने में आती। हमारे यहां जन-संख्या की वृद्धि का कारण निर्बाध जनन है, जैसा कि मनुष्य से इतर प्राणियों में पाया जाता है। शिक्षा की कमी, जीवन-मान-सम्बन्धी विचारों का अभाव, भौतिक उन्नति की ओर से उदासीनता, संयुक्त परिवार, विवाह की अनिवार्यता, कम आयु में विवाह और धार्मिक अन्ध-विश्वास आदि के कारण जन-संख्या का विशेष भाग अनियंत्रित सन्तान अपने जीवन-काल में पैदा करता चला जाता है। यह हमारा सौभाग्य है (वैसे तो बड़े दुर्भाग्य की बात है) कि मृत्यु की दर भी हमारे यहां अधिक है, अन्यथा १० साल में ५ करोड़ के

स्थान पर १० करोड़ की वृद्धि हुई होती।

विपरीत हमारे अन्य उन्नतिशील देशों में विवाह अनिवार्य नहीं। कई व्यक्ति अविवाहित रह जाते हैं या रहना चाहते हैं और अपनी व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। कई अविवाहित इसलिए रह जाते हैं कि उनकी आय इतनी पर्याप्त नहीं होती कि पारिवारिक जीवन यापन कर सकें।

हमारे यहां जहां साधारणतः १५-१६ साल की आयु में लड़की की शादी हो जाती है और २०-२२ साल में लड़के की, वहां अन्य यूरोपीय और अमरीका के देशों में आम तौर पर २० साल से ऊपर लड़की की शादी होती है और २५ साल से ऊपर लड़के की—लड़की और लड़के की शादी की आयु २५ और ३० तक भी पहुंच गई है। फलतः एक स्त्री, जिसका विवाह २५ वर्ष की आयु में होता है, ४०-४५ साल की आयु तक उतने बच्चे पैदा नहीं कर पाती, जितने वह स्त्री, जिसका विवाह १५-१६ साल की आयु में हो जाता है।

तीसरा विशेष कारण जो हमारी जन-संख्या पर वृद्धि की दृष्टि से प्रभाव डालता है, वह है निर्बाध जनन। और देशों में जहां पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष (और पढ़े-लिखों की जहां संख्या ८० प्रति शत से ऊपर है) यह समझने लग गए हैं कि उन्हें केवल इतने ही बच्चे पैदा करने चाहिएं, जिनका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा वे अच्छी तरह कर सकें और साथ ही अपने जीवन को भी सर्वाङ्गपूर्ण बना सकें, वहां हमारे यहां इस ओर बहुत कम ध्यान

दिया जाता है। हमारे मध्यम-वर्ग में अभी इस प्रकार के विचारों का अभाव विशेष कर दिखाई देता है। मजदूर और निम्न-वर्ग तो अभी इन विचारों से कोसों दूर हैं।

समाज-शास्त्र-विशेषज्ञों का कहना है कि सामाजिक दृष्टि से एक परिवार कम से कम तीन बच्चे और माता-पिता तक सीमित रहना चाहिए। जन-संख्या को क़ायम रखने के लिए लगभग दो-तीन बच्चों की एक परिवार में आवश्यकता होती है। बच्चों की सुविधा, उनके खेल-कूद, मैत्री और अन्य जीवन-व्यापारों का ध्यान रखते हुए प्रत्येक पति-पत्नी को तीन-चार बच्चे पैदा कर उन्हें श्रेष्ठ नागरिक बनाना पर्याप्त है। उन देशों में जहां आबादी कम है और जीवन-निर्वाह आसानी से हो सकता है तथा उत्पादन के लिये आदमियों की जरूरत पड़ती है, यह संख्या बढ़ाई भी जा सकती है। अर्थ-शास्त्रज्ञ इस बात से सहमत हैं कि उत्पादन को देखते हुए जन-संख्या का कुछ दबाव उत्पादन पर रहना मनुष्यों को आलसी बनाने से बचाता है और राष्ट्र की शक्ति को नव-जीवन प्रदान करता रहता है। कुछ प्रतिस्पर्द्धा का होना व्यक्ति के चरित्र-निर्माण तथा विकास के लिए आवश्यक माना गया है। अगर प्रत्येक परिवार में तीन बच्चे भी औसतन न हों, तो कुछ अर्से बाद देश-विशेष की जन-संख्या में युवकों का अनुपात घटने लगता है और अधेड़ तथा वृद्धों की संख्या बढ़ जाती है। उस देश की जन-संख्या भी घटनी शुरू हो जाती है। यह स्थिति देश-विशेष के लिए हानिकर सिद्ध होती है।

† उत्पादन तथा हमारे देश की प्रकृति-प्रदत्त मानवोपयोगी वस्तुओं को देखते हुए यह अत्यावश्यक हो गया है कि भारतीय परिवारों में बच्चों की औसत संख्या इससे अधिक न हो, जिससे जन-संख्या में और वृद्धि रुक जाय। हमारी चालीस करोड़ की जन-संख्या राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से भी कम नहीं। हमारी जन-संख्या अब उस स्थिति में पहुंच चुकी है कि जहां पहुंचकर वह हमारी अवनति का कारण बन गई है। और अधिक वृद्धि हमारे लिये अब घातक सिद्ध होगी ×।

† इसका विस्तृत विवरण अगले लेख का विषय है।

× विशाल भारत, अक्टूबर १९४६ में प्रकाशित।

भारत की जन-संख्या और उत्पादन

भारत की जन-संख्या के अत्यधिक बढ़ जाने से जो-जो बुराइयां हमारे जीवन में आ रही हैं, उन पर हम अक्टूबर, १६४६ के 'विशाल भारत' में प्रकाश डाल चुके हैं। इस लेख में हम यह देखना चाहते हैं कि उत्पादन की दृष्टि से, हमारी जन-संख्या की वृद्धि में कोई गुंजाइश है या नहीं।

जन-संख्या में वृद्धि पिछले ४० वर्षों में इस प्रकार हुई है:—

१६११	६.४	प्रति शत	१६३१	१०.६	प्रति शत
१६२१	१.२	,,	१६४१	१५.१	,,

१६२१ तक वृद्धि किसी ठीक अनुपात में नहीं हुई। कारण, इन दिनों में इस देश में इतने अकाल तथा बीमारियां आईं कि लाखों आदमी मौत के मुंह में चले गये। १६२१ के बाद वृद्धि की रफ़्तार काफ़ी तेज़ मालूम होती है। अनुमान यह है कि १६५१ में वृद्धि २० प्रति शत के लगभग होगी और भारत की जन-संख्या लगभग ५० करोड़ तक पहुंच जायगी।

पिछले ४० वर्षों में शिशुओं की मृत्यु के आंकड़े (१००० जीवित शिशुओं पर) इस प्रकार हैं:—

१६११	२०५	१६३१	१८१
१६२१	१६६	१६४०	१६०

यद्यपि अन्य देशों के तत्सम्बन्धी आंकड़ों को देखते हुए हमारे यहां शिशुओं की मृत्यु बहुत अधिक है, फिर भी उसका २०५ से १६० तक पहुँच जाना यह दिखलाता है कि भविष्य में यह संख्या और भी कम होगी और हमारी जन-संख्या में वृद्धि होने की रफ़्तार के बढ़ने की आशंका और भी अधिक है।

जन-संख्या की तुलना में उत्पादन के आंकड़े निम्न प्रकार हैं। ये आंकड़े १६१०–११ से १६१४–१५ को १०० आधार मानकर हैं :—

	जन-संख्या	फसलें	खाद्य-पदार्थ	अन्य फसलें	औद्योगिक
१६१०-११ से १६१४–१५	१००	१००	१००	१००	१००
१६३२–३३	११७	१२७	१३४	१२१	१५६

उत्पादन-सम्बन्धी उपर्युक्त आंकड़ों का औसत १६३२-३३ में १३४ और उसी साल की जन-संख्या के आंकड़े ११७ हैं। इस प्रकार उत्पादन में वृद्धि साधारण ही माननी चाहिए।

उत्पादन के आंकड़ों तथा एक व्यक्ति की सालाना आय के अध्ययन से अर्थशास्त्र-विशेषज्ञ दो नतीजों पर पहुंचे हैं। पहला,

देश का कुल द्रव्योपार्जन लगभग उसी अनुपात से हुआ है, जिससे जन-संख्या बढ़ी है। दूसरा, द्रव्य का वितरण सम्यक तरीके से नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि उत्पादन वगैरह में जो वृद्धि हुई है, उसके कारण एक भारतीय के जीवन-मान में कोई उन्नति नहीं हुई, उसके जीवन-यापन के भौतिक आधार में कोई अन्तर नहीं आया। वह उतनी ही बुरी हालत में जीवन-निर्वाह कर रहा है जितना इस शताब्दी के शुरू में कर रहा था।

परन्तु यहां हमें इस भ्रम में पड़ने से अपने आपको बचाना होगा। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, उद्योग-धन्धों में वृद्धि होने के साथ-साथ हमारी जन-संख्या में भी वृद्धि उसी प्रकार हुई और लोगों के जीवन-स्तर में कोई अन्तर नहीं आया। इसलिये लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा करने के उद्देश्य से उद्योग-धन्धों के बढ़ाने की योजनाएं बनाना हमें छोड़ ही देना चाहिये, वास्तव में यह निष्कर्ष ठीक नहीं। दूसरे देशों के अध्ययन से हमें पता लगता है कि आरम्भ में उद्योग-धन्धों के बढ़ने के साथ साथ जन-संख्या में वृद्धि सब कला-कौशल प्रधान देशों में हुई। बाद में धीरे-धीरे जन-संख्या में वृद्धि घटने लगी। इंग्लैंड तथा फ्रांस में तो वह इतनी घट गई कि उनके यहां हमसे बिलकुल उल्टी समस्या—न्यून जन-संख्या की समस्या—खड़ी हो गई।

उद्योग-धन्धों के तेज रफ़्तार से बढ़ने में अन्य देश-वासियों के जीवन में निम्नलिखित परिवर्तन देखने को मिले:—

(१) जिस रफ़्तार से उद्योग-धन्धे बढ़े, उसी रफ़्तार से जन-संख्या

भी बढ़ी।

(२) पैदायश की दर में कमी मृत्यु की दर के बाद हुई, परन्तु जब पैदायश की दर गिरनी शुरू हुई, तो वह और भी तेज़ी से गिरी।

(३) औद्योगिक उन्नति के साथ परिवार में भी कमी हुई, अर्थात् संयुक्त परिवार की प्रथा खत्म होने लगी। परिवार के सीमित करने के विचार फैलने लगे और लोगों का जीवन मान बढ़ने लगा। सीमित परिवार के विचार सर्वत्र उच्च-वर्ग से निम्न-वर्ग में फैले।

(४) पैदायश की दर गिरने और परिवार के सीमित होने का खास कारण सन्तान-निरोध के उपायों को प्रयोग में लाना रहा है। इसके लिए स्वतन्त्र रूप से प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में प्रारम्भ हो गया था।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि अगर भारत में भी औद्योगिक-विकास के साथ आरम्भ में जन-संख्या में वृद्धि हो रही है, तो डरने का विषय नहीं। सम्भव है, यह भी ठीक हो, परन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि जब तक लोगों के विचारों, उनकी आदतों और रीति-रिवाजों में परिवर्तन नहीं लाया जाता, हमें विशेष सफलता नहीं हो सकती।

भारत के उद्योग-धन्धों में कृषि प्रमुख है। उसकी जन-संख्या का ७० प्रति शत अंश गांवों में रहकर कृषि तथा उससे सम्बन्धित उद्योग-धन्धों से अपना जीवन-निर्वाह करता है। पिछले ४० वर्षों

में फ़ी वर्गमील के हिसाब से जो वृद्धि हुई है, वह इस प्रकार है:—

साल	वृद्धि प्रति वर्ग मील	साल	वृद्धि
१६०१	१७६	१६३१	२१२
१६११	१६१	१६४१	२४६
१६२१	१६३		

यूरोप के कुछ देशों की जन-संख्या प्रति वर्ग मील सन १६३६ में इस प्रकार थी:—

ब्रिटेन	५०१	चेकोस्लोवेकिया	२४१
जर्मनी	३७१	पोलैण्ड	२२८
हंगेरी	२५१		

इनकी तुलना अब भारत के प्रान्तों से भी देखिए, जिनमें औद्योगीकरण नाम-मात्र के लिए हुआ है (सन१६४१):—

बंगाल	७७६	मद्रास	३६१
बिहार	५२१	बम्बई	२७२
यू० पी०	५१८	पंजाब	२८७

हमारी कृषि-प्रधान जन-संख्या का घनत्व पूर्वी यूरोप के कुछ देशों (१०० एकड़ खेती के लायक़ भूमि पर कृषि-सम्बन्धी जन-संख्या) के मुक़ाबले में इस प्रकार है :—

पोलैंड	३१	बल्गेरिया	३३
चेकोस्लोवेकिया	२४	ग्रीस	४८
हंगेरी	२४	भारत (१६४१)	४८
युगोस्लेविया	४२		

हमारे यहां की खेती की पैदावार के तुलनात्मक आंकड़े भी यहां दिए जा रहे हैं। चावल और गेहूं के आंकड़े (एक एकड़ में पौंडों में) ही मिल सके हैं :—

देश	चावल	गेहूं
भारत	६८८	८११
चीन	२४२३	६४६
जापान	३०७०	१३५०
दुनिया	१४४०	८४०

दूध के खर्च (पौंडों में प्रति व्यक्ति पीछे सालाना) की तुलना इस प्रकार है:—

डेन्मार्क	४१०	पंजाब	२६०
पोलैंड	२६०	बिहार व उड़ीसा	६६
ग्रीस	१५५	सी० पी०	१८
हंगेरी	२४०	यू० पी०	११४
बंबई	६१	मद्रास	३७
बंगाल	४४	आसाम	५०

भारत और पूर्वी यूरोप के तुलनात्मक अध्ययन से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि जन-संख्या का कितना बोझ हमारी भूमि पर पड़ रहा है। पोलैंड के बारे में (जिसकी सालना आय प्रति व्यक्ति २१३ रु० है) युद्ध से पूर्व एक विद्वान ने लिखा था, "पोलैंड के कुछ हिस्सों में अकाल एक साधारण सी बात है। दक्षिणी तथा पूर्वी पोलैंड के कुछ जिलों में तो वहां का निवासी

एक दियासलाई की सींख भी एक बार में इस्तेमाल नहीं कर पाता। वह उसे तीन-चार हिस्सों में फाड़ कर तीन-चार बार आग जलाने के काम में लाता है।" इससे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि निर्धनता पोलैंड में कितनी है और भारत में—जिसकी औसत आय (६५ रु०) पोलैंड से १/४ से कुछ अधिक है—कितनी हो सकती है।

उपर्युक्त आंकड़ों से तथा अन्य आंकड़ों के अध्ययन से, जो स्थानाभाव के कारण यहां नहीं दिये जा रहे, जहां हमारी कृषि पर अवलम्बित जन-संख्या के दुर्भाग्य का चित्र हमारे सम्मुख खिंचता है, वहां कुछ और भी बातों का पता लगता है। हमारे यहां के किसानों का एक दुर्भाग्य यह भी है कि उनके पास बंटते-बंटते इतनी कम भूमि रह गई है कि उस पर खेती करना व्यवहारिक दृष्टि से किसी प्रकार भी ठीक नहीं कहा जा सकता। अधिकांश किसानों के पास दो एकड़ से भी कम जमीन है। उस पर काम करने वाला किसान साल में ३ से ६ महीने तक बगैर धन्धे के रहता है। दूसरी बात जो किसान की निर्धनता का कारण है, वह है उसके ऊपर बनिये, जमींदार तथा सरकार का बोझ। एक भारतीय किसान की उपज का, जो चीन तथा अन्य पूर्वी देशों के मुकाबले में बहुत ही कम बैठती है, अधिकांश भाग—किसान-परिवार के साल-भर एक वक्त भर पेट खाने के लिए पूरा न छोड़ कर—जमींदार, महाजन, सरकार आदि के यहां चला जाता है। तीसरी बात विरासत के नियम हैं, जिनके कारण भूमि के छोटे-

छोटे टुकड़े होते जा रहे हैं और अन्य उद्योग-धन्धों की गैरहाजिरी में परिवार के सभी व्यक्तियों को उन्हीं छोटे-छोटे टुकड़ों से चिपके रहना पड़ता है।

कृषि को वैज्ञानिक, व्यवसायिक तथा राष्ट्रीय आधार पर लाने के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं :—

(१) एक किसान को कम से कम इतनी भूमि दी जाय, जिस पर वह अपना तथा अपने परिवार का गुजारा अच्छी तरह चला सके और इतना अन्न पैदा कर सके कि भारत की अन्य जन-संख्या की भी खाद्य-समस्या को हल कर सके—अर्थात खाद्य-पदार्थों की दृष्टि से भारत स्वतन्त्र हो सके। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अमरीका या आस्ट्रेलिया की तरह बड़े-बड़े फार्म बनाएं और बड़ी-बड़ी मशीनों द्वारा खेती करें। फिर भी १०-१५ एकड़ या उसके लगभग का एक ऐसा टुकड़ा निश्चित किया जा सकता है, जो एक परिवार के हिस्से में आवे। किसान की मृत्यु के बाद वह उसके बड़े लड़के के पास जाय और उसका विभाजन किसी प्रकार भी न हो। विरासत का नियम इस रूप में बदल कर भविष्य में खेतों के टुकड़े होना बन्द कर दिया जाय।

(२) जमींदारी-प्रथा बिलकुल हटा दी जाय। सरकार की ओर से भूमि-कर बहुत कम कर दिया जाय और जो भी साधारण-सा कर लिया जाय, वह भी खेती तथा खेतिहरों की उन्नति में लगाया जाय। लगान भी एक प्रकार का आय-कर है और यह भी आय-कर के सिद्धान्तों के अनुसार लिया जाना चाहिए।

(३) जो जमीन अभी तक बगैर जुती पड़ी है वह, और जो जमीन जमींदारों से बरामद हो, उसका कुछ भाग किसानों में न बांटकर बड़े-बड़े फार्मों में बदल दिया जाय। इन फार्मों में मशीनरी के प्रयोग से सरकारी तौर पर अथवा रूस की सहकारी प्रथा पर खेती की जाय, जिससे राष्ट्रीय आवश्यकताओं को देखते हुए उन पर समयानुसार फ़सलें पैदा की जा सकें। इन फार्मों पर कृषि सम्बन्धी और भी कई प्रयोग किये जा सकते हैं। ये किसानों की कृषि-सम्बन्धी शिक्षा के केन्द्र भी बन सकते हैं।

(४) जो जन-संख्या इस प्रकार खाली हो जाय, उसके लिए गांवों में अन्य उद्योग-धन्धे जारी किये जायं।

इस प्रकार खेती की उन्नति जहां हमारे खाद्य-पदार्थों की कमी को दूर करने के लिए आवश्यक है, वहां किसान की उन्नति के लिए भी। निस्सन्देह खेती को वैज्ञानिक तरीके पर लाने और उद्योग-धन्धों के गांवों में बढ़ने से कुछ व्यक्तियों को काम-धन्धे मिलेंगे, उनका जीवन-स्तर ऊंचा हो सकेगा; परन्तु अधिकांश व्यक्ति कृषि से खाली ही होंगे। उनके लिए अलग से कोई उद्योग-धन्धे ढूंढने होंगे। अतः जहां तक कृषि का सम्बन्ध है, हमारी जन-संख्या में जीवन-स्तर के ऊंचा करने के साथ-साथ वृद्धि के लिए कोई क्षेत्र नहीं है।

अगर कृषि में कोई क्षेत्र हमारी बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए नहीं है, तो क्या औद्योगिक क्षेत्र में उसके लिए कुछ स्थान है? हमारी औद्योगिक उन्नति के रास्ते में निम्नलिखित रुकावटें

विशेषकर हैं:—

(१) विदेशों द्वारा माल का यहां भेजना और हमारे अविकसित कारखानों से मुकाबला कर उनको धक्का पहुँचाना तथा उन्नति को रोकना।

(२) सरकार की आयात पर प्रतिबन्ध लगाने की कमज़ोरी। प्रथम तो भारतीय सरकार ब्रिटिश सरकार के आधीन है, और ब्रिटिश अमरीका की कर्ज़दार है, जिसका प्रभुत्व अब दुनिया के अधिकांश भागों पर है। इसलिए न तो इंग्लैंड का माल भारत में आने से रोका जा सकता है और न अमरीका का।

(३) पूंजीवाद के जिस आधार पर देश में कल-कारखाने चलाये जा रहे हैं, उसके अनुसार आयात पर प्रतिबन्ध लगाना और देश में स्वदेशी चीजों के दाम बढ़ने देना भी निर्धन भारतीय की दृष्टि से उचित नहीं ठहरता।

(४) भारत सरकार के हाथ में इतनी शक्ति नहीं कि वह अधिकांश जनता के लिए आवश्यक कल-कारखानों को समाज-वाद के आधार पर ले आवे, उत्पादन का वितरण ठीक तरीके से करा सके तथा नये उद्योग-धन्धों में पूंजी लगाकर तथा आयात को आवश्यकतानुसार बढ़ा-घटाकर औद्योगिक योजनाओं को कार्य-रूप में लावे। जब तक भारत में जनता के प्रति उत्तर-दायित्वपूर्ण शक्तिशाली सरकार की स्थापना नहीं होती, तब तक उद्योग-धन्धों की वृद्धि भी सीमित अवस्था में रहेगी और जीवन-मान ऊंचा होने तथा खेती से हटाये हुए आदमियों को काम पर

लगाने के कोई आसार भी नहीं दिखाई देते।

युद्ध-काल में विदेशों से भारत में माल कम आने के कारण यहां पर उद्योग-धन्धों की उन्नति कुछ हुई और जन-संख्या का वह भाग जिसके पास दोनों वक्त भोजन पाने के भी साधन नहीं थे, उसे साधन मिल गये। परन्तु अब युद्ध के समाप्त होने पर दो-चार साल में ही भारतीय उद्योग-धन्धों को बाहरी माल के कारण काफी धक्का लगेगा और उनकी उन्नति रुक जायगी, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार हमारी × ४५ करोड़ तथा भविष्य में बढ़ने वाली जन-संख्या के लिये धीरे-धीरे बढ़ते हुए उद्योग-धन्धों में ही उसकी भौतिक व सांस्कृतिक उन्नति के कोई आशातीत लक्षण नहीं दिखाई देते। अगर जन-संख्या की वृद्धि में गत २० वर्षों की रफ्तार बनी रहती है, तो परिणाम यह होगा कि उद्योग-धन्धों में जो वृद्धि होगी उससे केवल जीवन-मान अगर गिरेगा नहीं तो आज के समान ही बना रहेगा। जिस जीवन-स्तर पर भारत की अधिकांश जन-संख्या है, वह इतना नीचा है कि उसे मानव-जीवन के लिए किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

यूरोप के जिन देशों में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी, वहां की सरकारें अपने भाग्य की आप निर्माता थीं। उन्होंने शिक्षा तथा

× छः साल में जन-संख्या ४० करोड़ से बढ़कर ४५ करोड़ हो गयी होगी, ऐसा अनुमान है।

अन्य सांस्कृतिक उन्नति के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया। शिक्षित जनता को सुयोग्य नेताओं का सहयोग मिलने से वह अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लिए प्रयत्नशील रही। व्यक्तिगत और पारिवारिक दृष्टि से जब उसे यह उचित बतलाया गया कि अधिक बच्चे पैदा न किए जायं, तो इसके लिए उच्च तथा मध्यम वर्ग के लोग प्रयत्नशील हुए। धीरे-धीरे निर्धन वर्ग में भी इस ओर प्रयत्न जारी हुआ। परिणाम-स्वरूप वहां पर औद्योगिक उन्नति के साथ व्यक्ति का जीवन-स्तर बढ़ा, उसकी औसत आय बढ़ी, बच्चों का लालन-पालन वगैरह ठीक तरीके से होने से उनकी मृत्यु घटी और माताओं के स्वास्थ्य में भी आशातीत उन्नति हुई।

औद्योगिक उन्नति के पर्याप्त साधनों के अभाव में हमें अपनी जन-संख्या की नैसर्गिक बाढ़ को रोकने के लिए प्रयत्नशील होना पड़ेगा। साथ ही अपने उद्योग-धन्धों को समाजवाद के आधार पर लाकर उसके विकास करने के लिए भी सतत प्रयत्न करना होगा। भारत की ४५ करोड़ जन-संख्या का जीवन-स्तर ऊंचा करने के लिये एक ओर जहां समाजवाद के सिद्धान्तों पर औद्योगीकरण आवश्यक है, वहां जीवन-स्तर को और भी नीचे जाने से बचाने के लिए सन्तान-निरोध के उपायों का बुद्धिमत्ता से प्रयोग भी। +

+विशाल भारत, अप्रैल १९४७ में प्रकाशित

भारतीय संस्कृति का भावी स्वरूप

गांधीवाद और उसका वह स्वरूप, जो पिछले बीस वर्षों से भारतीय जनता पर साधारणतः और कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ताओं पर विशेषतः अपना प्रभाव डालता रहा है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति का, जब बड़ी-बड़ी मिलों और मशीनों का अविष्कार नहीं हुआ था, द्योतक है और जो भविष्य में भी हमें देश, काल और परिस्थिति के विचार छोड़कर शक्तिशाली और संसारव्यापी विरोधी शक्तियों—जैसे इंग्लैंड, अमरीका और रूस आदि—की दया पर रखना चाहता है, निस्सन्देह अब निष्पक्ष रहकर इस समस्या पर विचार करने के लिये हमें बाध्य करता है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-स्वभाव सर्वत्र ही प्राचीन संस्कारों से प्रभावित रहता है और हमारे निष्पक्ष रहकर विचार करने में बाधक होता है। हम स्वभावतः आगे बढ़ने से, नवीन रास्ते पर क़दम बढ़ाने से, डरते हैं, और हमारे डर की मात्रा और भी अधिक हो जाती है, जब हमें यह मालूम हो जाय कि कितनी कठिनाइयां हमें नवीन रास्ते पर चलने में सहन करनी पड़ेंगी। इंग्लैंड, अमरीका, जर्मनी, रूस, जापान वगैरह की बड़ी-बड़ी

मिलों, कारखानों और फैक्टरियों को देखकर और उन देशों की अधिकांश जनता को उनमें मशीनवत काम करते देखकर—एक ओर धन-वैभव के महल और दूसरी ओर छोटी-छोटी कोठरियां, एक ओर प्रचुर मात्रा में आमोद-प्रमोद, शिक्षा, रहन-सहन के साधन और दूसरी ओर दिन-रात एक कर केवल रूखा-सूखा भोजन, अर्धनग्न शरीर और अशिक्षा, एक ओर स्वच्छन्द जीवन और दूसरी ओर दासता, एक ओर आधिक्य के कारण मानवीय गुणों (जैसे सहृदयता, सहानुभूति, दयालुता, निःस्वार्थता, प्रेम) का विनाश और दूसरी ओर निपट अभाव के कारण उनके विकास के मार्ग में बाधा—हम स्वाभाविक तौर पर ही यह चाहते हैं कि किसी प्रकार हम अपनी भारतीयता को बनाए रखें। हम अपनी उस संस्कृति को बनाए रखें, जिसमें जीवन की सादगी हो, धन-धान्य का बंटवारा अधिक समान हो, प्रत्येक के लिये काम हो, मानसिक व आत्मिक उन्नति के साधन हों तथा समस्त मानव-जाति के प्रति आत्मवत व्यवहार का निर्देश हो। अतः हम उन बड़ी-बड़ी मशीनों से दूर ही रहें, जिनके कारण पाश्चात्य देशों में पूंजीवाद का अभिशाप फैल रहा है और इन सद्गुणों का अभाव हो रहा है।

परन्तु हम भूल जाते हैं कि औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व हम लोगों का वास्तविक जीवन क्या था ? हमें जीवन-निर्वाह के लिये घण्टों काम करना पड़ता था। शिक्षा कुछ इने-गिने लोगों की पहुँच तक ही सीमित थी, पुस्तकों, पत्रों वगैरह का सर्वथा अभाव

था। यात्रा करने के लिये पैदल अथवा बैलगाड़ी वगैरह के अलावा और कोई सुविधा नहीं थी। यात्रा का कष्ट और जीवन को खतरा भी कम न था। तार, रेडियो, टेलीफोन, रेल, हवाई-जहाज अर्थात समय तथा दूरी कम करने वाले सब साधनों का अभाव था। तात्पर्य यह है कि अगर अब हमें तीन शताब्दी पूर्व के जीवन के अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिए कहा जाय, या ऐसे भारतीय गावों में रहने के लिए कहा जाय, जो वर्तमान सभ्यता से कोसों दूर हैं, तो हम उस समय की वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं। तब हमारा जीवन अपने पैदा होने और रहने के गावों तक ही सीमित था और हमारी पहुँच की परिधि साधारणतः १०-२० मील तक ही सीमित थी। परन्तु आज हम समस्त विश्व को प्रत्येक पहलू से अपनी पहुँच में पाते हैं और उसके किसी भी कोने में तीन दिन में पहुंच सकते हैं। युद्ध के बाद शायद यह चौबीस घण्टे में ही सम्भव हो सकेगा।

आज संसार जिस शीघ्रता से एकीकरण की ओर बढ़ रहा है, उसकी कल्पना भी प्रत्येक नहीं कर सकता। मान लीजिए, एक मध्यम श्रेणी का भारतीय साधारण पारिवारिक जीवन व्यतीत करता है। पढ़ने-लिखने में उसे रुचि नहीं, न ही वह दैनिक पत्र वगैरह के पढ़ने की कोई आवश्यकता समझता है। वह भला क्या जान सकता है कि अब संसार में किस प्रकार की शक्तियां कार्य कर रही हैं? यही स्थिति एक निर्धन व उस धनी की है, जिसे इस दिशा में सोचने की आवश्यकता ही नहीं। साथ ही ऐसे

व्यक्ति भी हैं, जो हमारे भूतकालिक सुख-स्वप्न में भूले हुए हैं, तथा दूर के ढोल सुहावने वाली कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं। केवल वे व्यक्ति ही इस बात को समझ सकते हैं, जो वायुयान, रेडियो तथा विद्युत की असीम शक्तियों की कल्पना कर सकते हैं तथा युद्ध के बाद दूरी को कम करने का जो कार्य इनके द्वारा होगा, उसे समझ सकते हैं। विज्ञान के इस काल में जो शक्तियां हमें एकीकरण की ओर द्रुत गति से ले जा रही हैं, उनमें से मुख्य हैं—(१) रेल, जहाज़, हवाई-जहाज़, वग़ैरह (दूरी कम करने के साधन); (२) तार, टेलीफ़ोन, रेडियो, चल-चित्र, समाचार-पत्र, पुस्तकें वग़ैरह (बोल-चाल व समझने के अर्थात् विचार-विनिमय के साधन); (३) व्यापार-सम्बन्धी वस्तुओं का एक देश से दूसरे देश में आना-जाना; (४) पिछड़े हुए देशों पर—जैसे चीन, भारत, अफ़्रीका, अरब तथा अन्य छोटे-मोटे देशों व द्वीपों पर—बड़े-बड़े शक्तिवाली राष्ट्रों द्वारा अपने लाभार्थ अपना प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा और प्रयत्न; (५) विश्व में शान्ति-स्थापनार्थ बड़ी-बड़ी शक्तियों का सामूहिक प्रयत्न।

यूरोप व अमरीका के मुक़ाबले में और उनसे लोहा लेने के लिए यह अनिवार्य है कि एक आधुनिक एवं शक्तिशाली भारत का जन्म हो। हम निहत्थे रहकर या स्वयं गाय बनकर यूरोपीय या अमरीकन शेरों को अत्याचार करने से रोक नहीं सकते—परोक्ष रूप से प्रोत्साहित भले ही करते रहें। परन्तु स्वयं शक्तिशाली बनकर हम उनसे लोहा ले सकते हैं, उन्हें आततायी बनने से रोक

सकते हैं। भारतीय संस्कृति के उस श्रेष्ठ स्वरूप को हम तब तक नहीं भूलते, जब तक कि हम स्वयं शक्तिशाली होकर दूसरों पर अत्याचार करने के लिए हाथ नहीं उठाते, बल्कि उनकी रक्षा करने के लिए आगे बढ़कर लड़ने को तैयार रहते हैं। यह विज्ञान के वर्तमान आविष्कारों और भविष्य में होने वाले आविष्कारों को व्यावहारिक रूप देकर ही संभव हो सकता है। वे देश, जिनमें मशीनों व मिलों और बड़े-बड़े कारखानों का तथा विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा रहा है, अब इस युद्धकाल में विशेष परिस्थिति के पैदा हो जाने के कारण मशीन-युग की अनेक बुराइयों को कम करने के प्रयत्न में लगे हुए हैं और बड़े-बड़े पूंजीपतियों को अपने नियन्त्रण में करते जा रहे हैं। निर्धन मजदूरों व सामान्य जनता के हितार्थ खान-पान, रहन-सहन-सम्बन्धी मनुष्य की समस्त दैनिक व्यवहार की आवश्यकताओं का राशनिंग (अर्थात् आवश्यकतानुसार वितरण), वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण, पूंजीपतियों के लाभ में से ९०-९५ प्रति शत आय का भाग लेना, मजदूरों के लिए शिक्षा, औषध, घर तथा जीवन-बीमा, स्त्रियों के लिए प्रसव-काल की छुट्टी, उनके जमीन के नीचे अस्वस्थ स्थानों में काम करने पर प्रतिबन्ध, अधिक वेतन वगैरह—सब समयोपयोगी आवश्यकताओं का सरकार द्वारा प्रबन्ध किया जा रहा है और यथा सम्भव प्रत्येक देश इस प्रयत्न में संलग्न है कि किस प्रकार पूंजीपतियों तथा मजदूरों और धनिकों तथा निर्धनों का अन्तर कम किया जाय तथा एक का दूसरे द्वारा शोषण बन्द हो।

हमारे यहाँ तथा अन्य देशों में शासनकर्ता रेल, तार, डाक, बिजली, अस्त्र-शस्त्रों के कारखाने तथा इस प्रकार के अन्य लोकोपयोगी कार्यों का संचालन जनता के हितार्थ स्वयं कर रहे हैं या अपने हाथों में ले रहे हैं और शासनकर्ता अपना दायरा बढ़ाते ही जाते हैं। परन्तु भारतीय सरकार विदेशी होने से हमारे यहाँ एक नई समस्या अन्य सामाजिक व आर्थिक समस्याओं के साथ बनी ही रहती है। विदेशी सरकार के कारण हम इच्छा रखते हुए भी अपनी औद्योगिक उन्नति नहीं कर पाते। दूसरे देशों ने औद्योगिक उन्नति के शैशव काल में विदेशी वस्तुओं के आयात पर बड़े-बड़े प्रतिबन्ध लगाकर स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन में मिल-मालिकों को यथेष्ट सहायता दी और देशी उद्योग-धन्धों को सब प्रकार का सहयोग देकर वहाँ की जनता को धन-धान्यपूर्ण बनाया। यहाँ पर सरकार का प्रयत्न यह रहता है कि विदेशी वस्तुएँ जनता को सस्ती दी जायँ; परन्तु उनको काम-धन्धों से वंचित कर भले ही उनके हाथ में खरीदने की शक्ति चाहे न रहे। इस बात की पूर्ण आवश्यकता समझते हुए कि पूँजीपतियों तथा मिल-मालिकों पर उचित नियन्त्रण रखना अनिवार्य है, साथ ही यह भी आवश्यक है कि देशी वस्तुओं के उत्पादन में सरकार की ओर से पूर्ण सहयोग मिले और इस हालत में अगर भारतीय जनता को देशी वस्तुएँ कुछ काल तक घटिया तथा महँगी भी मिलें, तो भी कुछ काल बाद यह हमारे हित में ही रहेगा।

युद्ध के बाद हमारी विदेशी सरकार भारतीय हितों की कुछ

भी परवाह कर यहाँ आवश्यकतानुसार भारतीय औद्योगिक उन्नति की कोई पंच वर्षीय या दस वर्षीय योजना अमल में लायगी, इसमें हमें सन्देह है। औद्योगिक योजनाओं पर इस समय अंगरेजी में इतना साहित्य निकल रहा है कि यह आशंका हुए बिना नहीं रहती कि युद्ध-काल में जितने महँगे कागज पर ये छप रही हैं, कहीं वही दुरुपयोग में लाया गया न समझा जाय। हमें सरकार पर भारतीय परिस्थिति के अनुरूप योजना को कार्य-रूप में लाने के लिए जोर डालने के साथ ही अपने बल-बूते पर भी अधिकाधिक उद्योग-धन्धों को यहाँ पर क़ायम करना चाहिए। ये उद्योग-धन्धे निम्न श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं : (१) जिनका संचालन सरकार द्वारा हो—जैसे रेल, तार, डाक, बिजली तथा कुछ अन्य आधारस्थ उद्योग-धन्धे। (२) बड़े-बड़े कल-कारखाने, जो जनता की आवश्यकताओं को पूरा करें तथा निर्यात के लिए भी वस्तुओं का उत्पादन करें—जैसे कपड़ा, लोहा, कागज, दवाई आदि के कारखाने व मिलें। इन पर सरकार का नियन्त्रण हो, जिससे मजदूरों व जनता के हित का पूरा ध्यान रखा जा सके। इनसे निर्धन मजदूरों व जनता को काम भी मिलेगा और भूखों मरने की समस्या भी हल होगी। (३) छोटे-छोटे उद्योग धन्धे, जिन पर सरकारी प्रतिबन्ध की विशेष कोई आवश्यकता नहीं, जो मुख्यतः १०-२० मज़दूरों तक सीमित रहते हैं, जिनमें अधिक पूंजी भी नहीं लगती और साथ ही साथ मालिक व मजदूर में व्यक्तिगत सम्बन्ध भी बना रहता है। ऐसे छोटे-छोटे कई काम-धन्धे कृषि

के साथ चल सकते हैं और उनसे गांव वाले अपनी आमदनी भी बढ़ा सकते हैं।

भारतीय ग्रामीणों का मुख्य धन्धा कृषि है; परन्तु उसके साथ-साथ मुर्गी पालना, मवेशी पालना, ऊन के लिए भेड़ पालना, डेयरी, रेशम के कीड़े पालना, शहद का उत्पादन, तेल निकालने को कोल्हू तथा बिजली के गावों में पहुंचने पर और भी ऐसे छोटे उद्योग-धन्धे खेती के साथ-साथ सहकारी या पारिवारिक कामों के रूप में बड़ी आसानी से चल सकते हैं। इसके अतिरिक्त कई कारखाने व मिलें गांवों व क़स्बों की पहुँच में लगवाकर गांवों की बेकारी की समस्या तथा शहरों की मजदूर-बस्तियों की समस्या भी हल की जा सकती है, जो कि वर्तमान फैक्टरियों और पूंजी-पतियों के लिए लज्जा का विषय है।

आजकल खादी को जिस रूप में और मामूली चर्खे के आधार पर चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह अधिक कष्टसाध्य है और उसमें आय भी बहुत कम होती है। अगर कोई ऐसा चर्खा बन सके, जो एक आदमी को ६ घण्टे काम करने पर बजाय एक-डेढ़ आने के, जो आय लड़ाई के पहले इस काम में होती रही है, आठ-दस आने रोज़ दे सके, तो फिर कताई और बुनाई का धन्धा ऐसे बढ़िया चर्खों और खड्डियों के आधार पर गांव वालों की आवश्यकता पूरी करने के लिए गांवों में चलाया जा सकता है। अखिल भारतीय चर्खा-संघ तथा कांग्रेस के वृहत प्रयत्न के फल-स्वरूप खादी के उत्पादन से जो आर्थिक लाभ किसानों को या

इस काम के करने वाले मजदूरों को हुआ है, वह बहुत ही साधारण है। यदि इतनी शक्ति अन्य छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों का, जिनसे अधिक आय हो सकती है, गांव वालों में प्रचार करने में लगाई जाय, तो अधिक सफलता की आशा हो सकती है और उनकी निर्धनता भी बहुत-कुछ कम की जा सकती है।

छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों के रूप में गांवों में कागज़ के उत्पादन पर भी शक्ति लगाना अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकेगा। कपड़े की तरह कागज भी मिलों द्वारा बहुत सस्ता और अच्छा तैयार किया जा सकता है। परन्तु अंडे, दूध, सुखाया हुआ दूध, घी, मक्खन, ऊन, घानी का तेल, चक्कियों द्वारा प्रस्तुत दालें तथा शहर की और आवश्यकताएँ—जिनका आधार कृषि, मवेशी या ज़मीन है और जिन पर मिलों की प्रतियोगिता का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता—पूरी की जायँ, तो अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। यदि बिजली या तेल के इंजनों में मामूली पूंजी लगाकर सहकारी रूप में उद्योग-धन्धे गांवों में चलाने की व्यवस्था कांग्रेस द्वारा की जाय, तो किसानों की वास्तविक सहायता की जा सकती है।

कृषि में आवश्यक सुधार के साथ—यानी अच्छे हल, आबपाशी, एक परिवार के लिए आवश्यक जमीन का एक स्थान पर होना, रूस की तरह ट्रैक्टरों द्वारा सामूहिक खेती आदि—देश के खाद्य पदार्थों की कमी तथा कारखानों के लिए कच्चे माल की कमी को पूरा किया जा सकता है और किसानों की अवस्था भी सुधारी जा

सकती है। कांग्रेस के सुयोग्य कार्य-कर्ताओं का सफाई के लिए झाड़ू लेकर गांवों में जाना हास्यास्पद प्रतीत होता है, जब कि वे लोग वहां शिक्षक, डाक्टर, कृषि-विशेषज्ञ, मवेशी-विशेषज्ञ, समाज-सुधारक आदि के रूप में जाकर अधिक उपयोगी कार्य कर सकते हैं। चूँकि कांग्रेस हमारे देश की प्रमुख राजनीतिक संस्था है, अतः उसे अपना ध्येय पूर्णरूपेण राष्ट्रीय बनाना चाहिए। वह आदर्शवाद के मंच से नीचे उतर कर व्यावहारिकता की समतल भूमि पर आये, यह उसके और देश के लिए परमावश्यक है। हमें अभी एक योग्य मिल-मालिक या पूँजीपति की उतनी ही आवश्यकता है, बल्कि अधिक ही, जितनी एक किसान व मजदूर की। कांग्रेस स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार कर जहां मिल-मालिकों को करोड़ों का लाभ पहुंचाती है, वहां उन पर अपना प्रभाव डालकर मनुष्योपयोगी सब सुविधाएँ मजदूरों को दिलवा सकती है। मिलों के प्रति घृणा के भाव पैदा कर या उन्हें अनिष्टकारी बतलाकर जनता को उस ओर से उदासीन रखना तथा स्वयं भी मजदूरों की रक्षा का संगठित रूप में कोई प्रयत्न न कर उन्हें अनुभवहीन कम्यूनिस्टों की दया पर छोड़ देना, देश को आवश्यक उद्योग-धन्धों और बड़ी-बड़ी मिलों तथा कारखानों के लाभ से वंचित रख उसको ग़रीब बनाए रखना एक राजनीतिक व सामाजिक भूल ही है, जिसे हमें निकट भविष्य में सुधारना पड़ेगा।

युद्ध-काल में परिस्थिति-विशेष के कारण यदि हम अपने देश के बड़े-बड़े कारखानों और मिलों से विदेशी सरकार होने के

कारण फ़ायदा नहीं उठा सके, तो शान्ति-काल में उनसे अपने आप को स्वतंत्र करना वास्तव में एक बड़ी भूल होगी। संभव है, युद्ध-काल के बाद युद्ध-काल के नर-संहार से डरकर और भी अधिक लोग मशीन-विद्रोही नीति के समर्थक हो जायँ और हमारी औद्योगिक उन्नति को भारी धक्का लगे। हमें एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए। विज्ञान के कारण जो औद्योगिक उन्नति कल-कारखानों, मशीनों, रेलों, हवाई-जहाजों, रेडियो आदि से हो रही है, उसका अभी आरम्भ ही है। १५० या २०० साल एक राष्ट्र या मानवता के इतिहास में विशेष मूल्य नहीं रखते। इतने काल में हमने अपने आपको इसके अनुरूप नहीं बना पाया है। हमारा खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, सामाजिक नियम आदि उस काल के आधार पर हैं, जब विज्ञान के कारण इन शक्तियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। सामाजिक नियम तथा संस्कार इतने शीघ्र नहीं बदलते, और यही कारण है कि हम अभी मशीन-युग पर अपना आधिपत्य नहीं जमा सके हैं। वे मशीनें जो निकट भविष्य में पालतू गाय बनकर हमारे कल्याण का कारण बनेंगी, अभी हमारे ऊपर अपना आधिपत्य जमाए हुए हैं—विशेष कर सीधे-सादे भारतीयों को दूर से ही डरा रही हैं।

हमारी सामाजिक व्यवस्था और शासन प्रणाली भी उस काल की द्योतक है, जब उत्पादन के क्षेत्रों का इस प्रकार केन्द्रीकरण नहीं हुआ था। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के कुछ काल बाद इस बात की आवश्यकता समझी गई थी कि विज्ञान के आविष्कारों

को कार्य-रूप में लाने के लिए कुछ-एक व्यक्तियों में शक्ति का केन्द्रीकरण हो, जो औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व मजदूरों व किसानों में बँटी हुई थी। धीरे-धीरे वहां पर मजदूर-संघों द्वारा और सरकार द्वारा पूंजीपतियों पर जोर डालकर कई औद्योगिक क्रान्ति की बुराइयों को हटाया गया ; परन्तु विज्ञान के नवीनतम प्रयोगों ने जिस शीघ्रता से उत्पादन बढ़ाया, उस शीघ्रता से लोगों में उन वस्तुओं को उपभोग में लाने की शक्ति नहीं दी। परिणाम यह हुआ कि वस्तुएँ बग़ैर बिकी रहीं, मजदूरों में बेकारी बढ़ी, विज्ञान के नवीनतम प्रयोगों को व्यावहारिक रूप देने में पूँजीपतियों ने अपनी आर्थिक हानि समझकर उन्हें रोक रखा, अन्य पिछड़े हुए देशों में अपना माल खपाने के लिए फ़ाशिस्त और पूँजीपति सरकारों ने बड़े-बड़े युद्ध कराये। पिछला भीषण युद्ध और यह भीषण युद्ध भी उसी के परिणाम-स्वरूप हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह संकट पूँजी, बड़े-बड़े कारख़ाने, राज्य-संचालन आदि कुछ इने-गिने आदमियों के हाथों में आने से आया है, और इसका हल अब यही है कि बड़े-बड़े कारख़ाने तथा उत्पादन केन्द्र सामूहिक हों, इनके संचालन पर जनता की सरकार का पूर्ण नियन्त्रण हो और वस्तुओं का उत्पादन तथा वितरण इस ढंग से हो कि उनमें काम करने वाले व्यक्तियों के हिस्से में उत्पादन का अधिक अंश आवे। सरकार इनके लिए सर्वत्र मनुष्योचित् सुविधाएँ दे तथा उन्हें बेकारी से दूर रखे। उत्पादन की कई वस्तुएँ औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व पंचायती थीं और आज भी बड़े-बड़े उत्पादन-

यन्त्रों के पंचायती होने तथा उन पर कठोर नियंत्रण रखने का समय आगया है। साथ ही हमारी सामाजिक व्यवस्था व शासन-प्रणाली जब तक औद्योगिक उन्नति के साथ-साथ नहीं चलेंगी, हम जीवन को मनुष्योचित नहीं बना सकेंगे।

समाजवाद का वह स्वरूप, जो भारतीय समाज को (परन्तु आगे चलकर समस्त विश्व को) पर्याप्त खान-पान, रहन-सहन, मानसिक और आत्मिक उन्नति की सुविधाएँ तथा जीवन-संचालन की उचित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी देता है, साथ ही विज्ञान के नवीनतम प्रयोगों को मानव-हित में लगाने का अवसर प्रदान करता है तथा धन और शक्ति का वितरण अधिक साम्य रूप में करता है, हमारी सामाजिक व्यवस्था और राज्य-प्रणाली का आधार होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि द्रुत गति से हमें उस ओर बढ़ना चाहिए। भारतीय संस्कृति का भावी भव्य भवन इसी समाजवाद की आधार-शिला पर ही निर्मित कर हम अपनी भारतीयता क़ायम रख सकेंगे, न कि औद्योगिक उन्नति और विज्ञान से असहयोग कर ÷।

÷ विशाल भारत, अगस्त १९४५ में प्रकाशित।

शिक्षित स्त्रियों के लिये पर्दे का विधान

कुछ दिन पहले अङ्गरेजी के प्रमुख दैनिक पत्रों में श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय का एक लेख छपा था। उसमें उन्होंने यह शिकायत की थी कि हमारे यहां की हजारों पढ़ी-लिखी लड़कियां प्रति वर्ष विद्यालयों और विश्व-विद्यालयों से उच्च शिक्षा प्राप्त कर निकलती हैं, परन्तु खेद है कि यहां पर समाजोन्नति का विस्तृत क्षेत्र होने पर भी वे न जाने कहां गायब हो जाती हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उनके अन्दर राष्ट्र के निर्माण की भावना ही नहीं होती अथवा वे सुख और वैभव के जीवन से ऊपर उठकर या उसके साथ साथ ही अपनी शिक्षा-दीक्षा से समाजोपयोगी किसी काम में योग देना नहीं चाहतीं। श्रीमती चट्टोपाध्याय ने शिक्षित लड़कियों के बारे में अपने उद्गार प्रकट करते हुए शिक्षित लड़कों के बारे में अपना कोई वक्तव्य नहीं दिया। सम्भवतः वे जानती हैं कि देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति में उन्हें जीविकोपार्जन के अतिरिक्त ऐसा अवसर ही कहां मिल पाता है, और जो मिलता भी है उसमें अधिकांश किसी न किसी समाजोपयोगी काम में लगे हुए हैं।

सम्पन्न घराने की पढ़ी-लिखी लड़कियों व स्त्रियों को, इसमें सन्देह नहीं, अपनी शिक्षा का अपव्यय करते हुए देख किस समाज-सुधारक को दुःख नहीं होता होगा। हमारे यहां की बी० ए०, एम० ए० महिलायें, गुरुकुल की स्नातिकायें, विभिन्न सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओं से उपाधि-प्राप्त लड़कियां और डाक्टरी, नर्सिंग, तथा अन्य कला-कौशल से विज्ञ महिलायें कुमारावस्था में अपने घर की चहारदीवारी में विवाह की प्रतीक्षा में निष्क्रिय जीवन व्यतीत करें अथवा घर के साधारण काम-धन्धों की देख-रेख करें और बड़े-बूढ़ों के कहने के अनुसार अपनी बुद्धि को ताक में रखकर ही अपना जीवन-यापन करें, तो अवश्य ही यह कहना होगा कि कहीं न कहीं हमारी शिक्षा में अथवा हमारे सामाजिक विधान में त्रुटि है। विवाह होने के पश्चात् भी अगर सुशिक्षित महिलायें सामाजिक जीवन में अग्रसर नहीं हो पातीं, और अपढ़ स्त्रियों के सदृश ही परम्परा के अनुसार अपने शिशुओं का जनन और लालन-पालन करती हैं और पाश्चात्य देशों ने जो इस ओर उन्नति की है उससे लाभ नहीं उठाना चाहतीं तथा केवल घर के दायरे में या अपने पति की अन्ध-भक्ति में ही अपने जीवन की इतिश्री समझती हैं, तो क्या यह स्थिति सामाजिक दृष्टि से एक गौण विषय रह जाता है और इस पर विशेष विचार करने की जरूरत नहीं है?

मेरा तो यह विचार है कि इस भावना के मूल में हमारे समाज की परम्परागत वह प्रथा है, जिसमें स्त्रियों और पुरुषों को आजीवन

सामाजिक रूप में अलग रखने का विधान है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति की ओर से कुछ कार्य विशेष तौर पर स्त्रियों के लिये ही बनाये गये हैं, जैसे शिशु-सम्बन्धी अधिकांश कार्य, नृत्य, गायन, अभिनय, सेवा-सुश्रूषा, गृह-संचालन इत्यादि। कुछ ऐसे धन्धे हैं जैसे शिक्षक, लेखक, चिकित्सक, वकील, क्लर्क वगैरह का जिन्हें स्त्रियां पुरुषों के समान ही योग्यता से कर सकती हैं। स्त्रियां वे सब काम कर सकती हैं जो परिश्रम-साध्य कम हैं, ऐसे काम जिनमें शरीर की तीव्र हलचल कम हो; वे काम जिनमें लगातार कई घण्टे बैठना चाहे पड़े परन्तु भाग-दौड़ न करनी पड़े। परन्तु हमने अपने सामाजिक विधान में अपनी संकुचित धारणाओं और स्त्री-जीवन-सम्बन्धी भ्रम-मूलक विचारों के कारण स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र इतना संकीर्ण बना रखा है कि हमने अपनी सामाजिक उन्नति का मार्ग रोक दिया है और हम अन्य उन्नतिशील देशों से बहुत पीछे रह गये हैं।

हमारे समाज में पर्दे की प्रथा दूर होती जा रही है परन्तु क्या वास्तव में हमने अपने विचारों और जीवन से पर्दे को निकाल दिया है? पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष और परिवार जिनमें पर्दे की प्रथा स्थूल रूप से अलग कर दी गयी है, अब भी उसके शिकार हैं। हमारे घरों में, मान भी लिया जाय, कि पर्दा नहीं है परन्तु क्या स्त्रियों और पुरुषों में इतनी निकटता आगई है जो बहिन-भाइयों में, पिता-पुत्री में, अथवा मित्रों में होती है? जब तक यह अन्तर बना हुआ है तब तक यह कैसे सम्भव हो सकता है कि स्त्रियों को

संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलने का अवसर मिल सके, उनके मन का विकास हो, उनमें कार्य-शीलता की भावनायें उदित हों और उन्हें जीवन-सग्राम में भाग लेने का अवसर मिल सके। केवल पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का पठन-पाठन उनकी इस कमी को सर्वथा पूरा नहीं कर सकता।

स्त्रियों को घर की चहारदीवारी में रखने अथवा पति की निपट अनुगामिनी बनाकर रखने में हम यह मान लेते हैं कि पति शिक्षक के नाते उसे सब कुछ दे सकता है अथवा उसके जीवन को उन्नति की ओर ले जा सकता है। वस्तुतः यह भ्रम है। प्रत्येक पति इतनी योग्यता नहीं रखता, इतना समझदार भी नहीं हो सकता और यह भी सम्भव नहीं कि उसके पास इतना अवकाश भी हो। परन्तु यह भी तो नहीं कि स्त्री की अन्ध-भक्ति भी वह सिर्फ इसलिये चाहता है कि इसी में उसकी उन्नति है। हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि पुरुष की अधिकार की लालसा, स्त्री पर एकाधिपत्य की भावना ही स्त्री को बाध्य करती है कि वह अपने आपको खोकर केवल अपने पति के रूप में प्रकट हो।

निःसन्देह स्त्री के जीवन में यौवनारम्भ के बाद ही एक अवस्था ऐसी आती है जब वह पुरुष-सामीप्य चाहती है और सारी उच्चाभिलाषाओं को एक ओर रखकर मातृत्व की ओर अग्रसर होना चाहती है। वह पूर्णरूपेण पुरुष की सेवा में अपने आपको अर्पण कर देना चाहती है। परन्तु यह भावना स्थायी जीवन की द्योतक नहीं। समाज के हित में यह आवश्यक है कि उसे पुरुष अपने

स्वार्थवश उस मार्ग में उलझाकर न रख ले, अथवा प्रचलित परम्परागत विचारों की ओट लेकर उसके सारे अन्य समाजोपयोगी कार्य-व्यापारों से उसे वंचित न कर दे। लेकिन पढ़े-लिखे विवाहित पुरुषों में यही भावना हमारे समाज में सर्व-सर्वा है। पढ़ी-लिखी विवाहित स्त्री के लिये इस प्रकार सब मार्ग रुक जाने के कारण वह पति पर अपना पूर्ण एकाधिपत्य समझने लगती है। इसके परिणामस्वरूप पति को भविष्य में अपनी उन्नति पर भी एक बड़ा विराम-चिन्ह लगा देना पड़ता है। हानि दोनों की होती है। पति और पत्नी दोनों ही एक सङ्कीर्ण क्षेत्र में विचरने लगते हैं, अथवा पति ही केवल आगे बढ़ता है, परन्तु उतनी सफलता वह नहीं प्राप्त कर पाता, जितनी पढ़े-लिखे पति-पत्नी दोनों मिलकर अपनी अपनी शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को गौण रखकर, जीवन यापन कर प्राप्त कर सकते हैं।

हमारे नैतिकता के उन नियमों ने, जिन्होंने स्त्री को एकदम छुई-मुई का पौधा बना डाला है और उसके सामाजिक जीवन का मूल्य तथा जीने का अधिकार उसके कौमार्य और सतीत्व पर ही निर्धारित किया है, प्रत्येक पढ़ी-लिखी स्त्री को चौका-चूल्हा करने पर या निपट संकुचित दायरे में रहने के लिये बाध्य किया है। समाज ने बाह्य पर्दे को हटाकर अन्तर का पर्दा ज्यों का त्यों अथवा उससे भी सुदृढ़ बना दिया है। हमारे शिक्षा के केन्द्र इसके जीवित उदाहरण हैं। उन विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में जहां सह-शिक्षा का प्रबन्ध है विद्यार्थियों में यह अन्तर बना ही रहता है।

लड़कियां घोंघा बनकर श्रेणी में बैठी रहती हैं, न शिक्षक से अपनी कठिनाइयां हल करती हैं और न सहपाठियों से। छुट्टी का घण्टा बजते ही या बीच में अवकाश मिलते ही वे स्त्रियों के कमरे में जाकर बैठ जाती हैं या सीधा घर का रास्ता नापती हैं। पुस्तकालय में वे नहीं बैठतीं, विद्यार्थियों से वे नहीं मिलना-बरतना चाहतीं, न ही उनके अभिभावक व शिक्षक नैतिकता के इन कठोर नियमों की उपस्थिति में इसका खतरा उठाना चाहते हैं। फलस्वरूप लड़कियों का व्यावहारिक ज्ञान संकीर्ण तथा शिक्षा अधूरी रह जाती है।

मैं मानता हूं कि प्राथमिक शिक्षा बालक-बालिकाओं की इकट्ठी, माध्यमिक लड़के और लड़कियों की अलग अलग तथा उच्च शिक्षा फिर एकत्रित होनी चाहिये। लड़के और लड़कियों की माध्यमिक शिक्षा उस सीमा तक भिन्न होनी चाहिये, जितनी लिंगभेद और जीवन-कार्य विभिन्न होने के कारण आवश्यक है। लड़कियों को इस समय शिशु-सम्बन्धी और गृह-सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करने का अधिक अवसर मिलना चाहिये, जिससे कि वे सुयोग्य मातायें तथा गृहणियां बन सकें जो कि एक सामान्य स्त्री के लिये प्रमुख जीवन-कार्य है। इसी काल में लड़कों व लड़कियों को काम-सम्बन्धी आवश्यक शिक्षा और विवाहित जीवन का महत्व वगैरह भी भली प्रकार समझा देना चाहिये। खेल-कूद और व्यायाम की दृष्टि से भी इस आयु में लड़के-लड़कियों को अलग अलग शिक्षा देना अधिक स्वाभाविक है। यह वह समय

रहता है जब बाल्यकाल समाप्त होता है और लड़के और लड़कियां दोनों में यौवन का आरम्भ होता है जिसका प्रभाव शरीर-निर्माण पर अधिक पड़ता है, और इसलिये विभिन्न व्यायाम तथा खेल-कूदों की आकांक्षा रखता है। उच्च शिक्षा में लड़के लड़कियों में आपस में मिलने-जुलने, मैत्री तथा पठन-पाठन की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये, जिससे कि वे जीवन के अपने अपने सम्बन्ध बना सकें। जब इस प्रकार के कुछ सम्बन्ध विवाहित जीवन के सम्बन्धों में परिणत होंगे, तब पढ़ी-लिखी स्त्रियां दृष्टि से ओझल न होकर समाज का क्रिया-शील अंग बनेंगी और अपनी सेवायें समाज को दे सकेंगी।

शिक्षा की वह प्रणाली जिसे जनता गुरुकुल-प्रणाली के नाम से जानती है हमारे जीवन से इतनी दूर हो गई है जितनी एक नागरिक के जीवन से जङ्गल में रहने वाले व्यक्ति का जीवन। गुरुकुल-शिक्षा जिन प्राचीन आदर्शों को लेकर चलती है और १५-१६ वर्ष के जंगल-निवास में जिन संस्कारों के बनाने में प्रयत्नशील रहती है वे नागरिक वातावरण में आकर निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं। अधिकांश कुलवासियों को रहन-सहन, भाषा, आचार-विचार सब में आमूल परिवर्तन करना पड़ता है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक नये संसार में उनका एकदम जन्म हुआ हो। लड़कियों और लड़कों को एक दूसरे से निपट अलग रखकर तथा उनके अभिभावकों से भी एक दीर्घ काल के लिये दूर रखकर गुरुकुल-शिक्षा उनके भावी जीवन में भी एक दृढ़

दीवार खड़ी कर देती है। गुरुकुल-शिक्षा-प्राप्त लड़कियों को, अपनी समस्त राष्ट्रीय भावनाओं को रखकर भी, व्यावहारिक ज्ञान के अभाव में, नवीन परिस्थिति में एकदम पड़ जाने के कारण, अपने माता-पिता व अभिभावकों की दया पर अपने आपको छोड़ देना पड़ता है जो उनके जीवन का संचालन अपने विचारों के अनुसार करते हैं। अगर गुरुकुल के विद्यार्थी अपने परिजनों से अधिक से अधिक सम्बन्ध रखकर या निकट रहकर विद्याभ्यास करें तो अपने माता-पिता पर भी वे अपने विचारों तथा संस्कारों का अदृश्य रूप में डालते जाएं और उनका आवश्यक सहयोग भी उन्हें अपने विचारानुसार जीवन बनाने में मिले।

हमें मानना पड़ेगा कि हमारे नैतिकता के नियम तथा उन पर निर्मित शिक्षा का भव्य भवन हमारे भावी देश-नायकों और विशेषकर देवियों को इस योग्य नहीं बना पाता कि वे जीवन-संग्राम में वीर और वीरांगनाओं की तरह सम्मुख लोहा ले सकें। वह उन्हें निर्धन बनाकर बाहर ढकेल देता है। निर्धन अर्थात उन्हें बगैर संगी-साथी, सहायक वगैरह के अपना रास्ता नापने के लिये छोड़ देता है। ऐसे विरले ही निकलते हैं जो इतने दृढ़-चरित्र हों कि अपना रास्ता स्वयं ही बना सकें। पढ़ी-लिखी लड़कियां विद्यालयों और विश्वविद्यालयों से बाहर आती हैं और फिर आधारहीन रहने के कारण, जिन्दगी के दिन आसानी से काटने के लिये, समाज की और पुरुषों की दया पर स्वयं को छोड़ देती हैं और विजित की भांति विजेताओं के आश्रय में आजीवन

के लिये चली जाती हैं। कभी २ उनकी तलाश में किसी कोने से आवाज़ उठती है और वह प्रभावहीन रहकर विलीन हो जाती है।

स्त्री के मुख पर से अंचल को हटाकर हमारे यहां के विचारशील सुधारक अगर यह आशा करें कि हमारी सुशिक्षित महिलायें समाज में अग्रसर होकर पुरुषों को अन्य उपयोगी कामों के लिये, जैसे स्वतन्त्रता के संग्राम में सम्मुख लोहा लेने के लिये और देश में साम्यवादी समाज की स्थापना करने वगैरह के लिये, अवकाश दे सकेंगी, जैसा कि अन्य उन्नतिशील देशों की स्त्रियां कर रही हैं, तो यह मृगमरीचिका के समान है। समाज के क्रियाशील जीवन में आकर एक विदुषी स्वभाववश ही पवित्र बनी रहना चाहेगी, परन्तु यदि नश्तर लगाते हुए उसके सफेद कपड़ों पर लोहू या पीव के छींटे पड़ जावें अथवा अन्य किसी वस्तु के दाग पड़ जावें तो वह अपने इस अपराध (?) के लिये मृत्यु-दण्ड पाने को किसी प्रकार भी तैयार नहीं। डाक्टरी की शिक्षा प्राप्त कर भी वह अपने चीर-फाड़ के औजारों को 'बैग' में पड़े २ जंग लग जाने देना अधिक उचित समझेगी। वह यह भी पसन्द नहीं करेगी कि वह सन्यासिनी बनकर, अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दबाकर अथवा मारकर, समस्त सुख-ऐश्वर्य के रहते हुए भी, एक कुशल विवाहित डाक्टर के सरस जीवन की तुलना में, अपना नीरस जीवन यापन करे। और विवाह के बन्धन में बंधकर क्या वह एक पुरुष की संकीर्ण भावनाओं की शिकार रहकर अपनी

समाज-सेवी शिक्षा को काम में ला सकती है? भारतीय नारी बनकर ही उसने यह अपराध किया है न। सुशिक्षित स्त्रियों के लिये एक ओर खाई है और दूसरी ओर कुंवा। मजबूरन उन्हें खाई में गिरना पड़ता है। वह उन्हें जीवित रहने की आशा तो दिलाती है।

हम पाश्चात्य जातियों का मुकाबला, जिनसे हमें पग २ पर लोहा लेना है, उन्हीं के सदृश कर्मवीर बनकर, उनके जीवन की सामाजोपयोगी प्रवृत्तियों को अपनाकर, उनके समान ही स्त्रियों को आवश्यक व्यक्तिगत और कार्य-स्वतन्त्रता देकर और उनसे अधिक से अधिक क्षेत्रों में काम लेकर कर सकते हैं। उन नैतिक नियमों का पालन कर नहीं जो भारतीय स्त्री और पुरुष के बीच अभेद्य दीवार बनकर खड़े हैं, जो स्त्रियों को सामाजिक जीवन व्यतीत करने से वंचित करते हैं, उन्हें विवाहित पुरुषों की संकुचित भावनाओं का शिकार बनाते हैं, और उनके व्यक्तिगत जीवन का कोई मूल्य नहीं आंकते। हमारे जीवनादर्श और नैतिकता के नियम व्यक्तिगत और जातीय उन्नति के परिचायक होने चाहियें, हमें एक हजार बर्ष पीछे ढकेलने वाले नहीं। ×

× साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' २५ जून तथा २ जुलाई १९४४ में प्रकाशित लेख, संशोधन के साथ।

हमारी स्त्रियों का स्वास्थ्य

पिछले कई सालों से हमारी बढ़ती हुई जन-संख्या समाज-शास्त्र के विशेषज्ञों के लिये चिन्ता का विषय हो रही है। गत ११-१२ वर्षों में १० करोड़ के लगभग व्यक्तियों की जन-संख्या की वृद्धि ने एक समस्या पैदा कर दी है।

हमारी जन-संख्या की यह वृद्धि, आर्थिक और औद्योगिक उन्नति तथा भोजन-सामग्री के उत्पादन के अनुपात में नहीं हो रही। परिवार में जहां कमानेवाला एक आदमी रहता है वहां खानेवाले दस या बारह आदमी।

इस बढ़ती हुई जन-संख्या का परिणाम हमारा गिरता हुआ स्वास्थ्य है। हमारा भोजन दिन ब दिन अपौष्टिक होता जाता है। एक ओर खाद्य-सामग्री की कमी है तथा दूसरी ओर समाज में प्रचलित कुछ रीति-रिवाज ऐसे हैं जो स्त्रियों को पर्दे में रखकर, उनका मिलना-जुलना, समाजोपयोगी कामों में लगना और धन कमाना वगैरह अनुचित समझते हैं और उन्हें घर की चहारदीवारी तक सीमित रखकर उनकी शारीरिक और मानसिक उन्नति को भी रोक देते हैं।

जब हम स्त्रियों के स्वास्थ्य के विषय में विचार करते हुए

उनकी जन-संख्या पर दृष्टि डालते हैं तो हमें कई खास बातें मालूम होती हैं। एक तो यह है कि दूसरे देशों के मुक़ाबले में हमारे यहां स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम है। १९४१ की जन-संख्या के अनुसार ३८ करोड़ ९० लाख आबादी में केवल १८ करोड़ ८० लाख स्त्रियां हैं, अर्थात् स्त्रियां पुरुषों से १ करोड़ ३० लाख कम हैं। इस तरह प्रति १०० पुरुषों के मुकाबले में ९३.५ स्त्रियां हैं। सन् १९३१ में यह संख्या ९४ प्रतिशत थी।

इसमें सन्देह नहीं कि पैदायश को देखते हुए हमारे यहां लड़कियां लड़कों के अनुपात में कम पैदा होती हैं, परन्तु लड़कियों का लड़कों के मुक़ाबिले में कम पैदा होना सभी देशों की विशेषता है। हमारे यहां १०८ लड़कों के पीछे १०० लड़कियां पैदा होती हैं।

एक ओर स्त्रियों की पैदायश कम होती है, दूसरी ओर पुरुषों की अपेक्षा उनकी प्रतिशत मृत्यु संख्या अधिक है। हमारे यहां १५ से ४० साल के अन्दर अन्दर अधिक स्त्रियां मरती हैं। यह वह समय होता है जब स्त्रियों पर बच्चे जनने का भार पड़ता है। आवश्यक डाक्टरी सहायता न मिलने के कारण तथा जन्म से ही औसतन् दुर्बल होने के कारण बहुत सी स्त्रियां प्रसव-काल में मर जाती हैं। अन्य उन्नतिशील देशों की अपेक्षा हमारे यहां औसत आयु जिन्दगी की सबसे कम है अर्थात पुरुषों की २६.९ साल तथा स्त्रियों की २६.६ साल। दूसरे देशों में आयु का औसत इस

प्रकार है—

देश	पुरुष	स्त्री
न्यूज़ीलैंड	६५.४	६७.६
अमेरिका	५६.१	६२.६
जर्मनी	५६.६	६२.७
इङ्गलैंड-वेल्स	५८.७	६२.६
जापान	४४.८	४६.५

इन आंकड़ों से यह साबित होता है कि हमारे यहां स्त्रियों की औसत आयु दूसरे देशों की स्त्रियों से कम ही नहीं, बल्कि हमारी स्त्रियों की औसत आयु यहां के पुरुषों से भी ४ महीने कम है जब कि दूसरे देशों में २ से ४ वर्ष तक अधिक।

हमने ऊपर लिखा है कि स्त्रियां १५ से ४० साल की उमर में अधिक मरती हैं। इस उमर में आकर स्त्रियों पर बच्चे जनने का पूरा भार पड़ता है। दूसरे सभ्य देशों में स्त्रियों की मृत्यु इस उमर में बहुत कम है। हमारे यहां १६३३ में कुछ आंकड़े इस सम्बन्ध में एकत्रित किये गये थे और उनके आधार पर प्रसव-काल में २४ प्रति हजार स्त्रियों की मृत्यु होती थी। उसके बाद बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में विस्तृत जांच की गई। स्वास्थ्य-सम्बन्धी एक विशेष कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर, जिसकी रिपोर्ट १६३७ में प्रकाशित हुई, प्रति हज़ार में बीस के क़रीब स्त्रियां प्रसव-काल में ही मर जाती हैं। सर जॉन ने यह भी हिसाब लगाया कि लगभग २०,००० मातायें प्रति वर्ष जापे में

मर जाती हैं अर्थात् एक घण्टे में २० स्त्रियां। इस काल में जो प्रसविनी स्त्रियां मरती हैं उनकी आयु ३० से नीचे ही अधिक होती है और १००० युवती-माताओं में से १०० मातायें ऐसी होती हैं जो जापे में ही मृत्यु के मुख में चली जाती हैं। इङ्गलैंड में प्रसव-कालीन मृत्यु २.७६ प्रति हज़ार है। अब आप इससे पूरा अन्दाज़ा लगा सकते हैं।

हमारे यहां स्त्रियों में इतनी अधिक मृत्यु के कई कारण हैं। छोटी उमर में लड़कियों का विवाह होने के कारण उनके स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। अंग-प्रत्यंग हृष्ट-पुष्ट होने से पहले ही वे मातायें बन जाती हैं। यद्यपि बाल-विवाह भारत में सब जगह नहीं पाया जाता और सरकार की ओर से भी इस प्रकार के विवाहों पर प्रतिबन्ध है फिर भी छोटी उमर के लड़के-लड़कियों के विवाह उत्तरी भारत में अधिक प्रचलित हैं। फलस्वरूप २॥ करोड़ लड़कियों की शादी १५ साल की उमर से पहले ही हो जाती है और वे अपरिपक्व अवस्था में मातायें भी बन जाती हैं।

दूसरा प्रमुख कारण हमारे यहां विवाह के बाद प्रति वर्ष अथवा प्रति दूसरे वर्ष बच्चे का पैदा होना है। इतना भार स्त्रियां सहन नहीं कर पातीं। उनका स्वास्थ्य, निकृष्ट भोजन, घर में २४ घण्टे की कैद, विवाह के बाद पारिवारिक जीवन की आवश्यकताएं पूरी करने तथा पुरुष की उछृङ्खलता को दासी के रूप में पूरा करने के कारण वैसे ही गिर जाता है। इस पर भी औसतन

छोटी आयु में बच्चों का होना और फिर अनिच्छा रहते हुए भी अपनी सामर्थ्य से अधिक बच्चों का पैदा करना और पालना उनके जीवन को नरक-तुल्य बना देता है।

दूसरे उन्नतिशील देशों में, जिनमें स्त्रियों के स्वास्थ्य में आशातीत सुधार हुआ है, स्त्रियों के संतान-निरोध के उपायों को प्रयोग में लाने के कारण माताओं पर अत्यधिक सन्तानोत्पत्ति का भार नहीं पड़ता और वे अपने स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखने में सफल भी हो जाती हैं।

हमारे यहां पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषों की संख्या भी कम नहीं है जो सन्तान-निरोध के उपायों का विरोध करते हैं। उनका विरोध कुछ पुराने संस्कारों के कारण, कुछ उचित समाजोपयोगी शिक्षा के अभाव के कारण और कुछ अपने प्रति निपट उदासीनता तथा जिस स्थिति में हैं उसी में सन्तुष्ट रहने के कारण होता है। मुझे कई पढ़े-लिखे और यहां तक कि डाक्टरी पढ़े हुए युवक भी मिले हैं जिनको सन्तान-निरोध के उपाय प्रयोग में लाने में पाप दिखाई देता है। वे इसे गैर-कानूनी समझते हैं और समझते हैं कि सन्तान-निरोध और भ्रूण-हत्या में कोई अन्तर नहीं। जहां हमारे यहां पढ़े-लिखे युवकों का यह हाल है वहां केवल २ प्रतिशत लिखना-पढ़ना जानने वाली स्त्रियों से क्या आशा की जा सकती है?

ब्रह्मचर्य्य पर व्याख्यान सुनकर और पुस्तकें पढ़कर भी ब्रह्मचर्य्य साधनेवाले स्त्री-पुरुष १ प्रतिशत भी नहीं मिलेंगे।

फिर ब्रह्मचर्य्य के भरोसे नियमित शिशुजनन (अर्थात प्रति तीसरे चौथे वर्ष शिशु का जन्म तथा एक कुटुम्ब का ३-४ शिशुओं तक सीमित रखना) हो सकेगा यह स्वप्न ही बना रहेगा।

स्त्रियों की अस्वस्थता का तीसरा प्रमुख कारण उचित डाक्टरी प्रबन्ध का अभाव है। समस्त भारत में लगभग ७,००० अस्पताल तथा औषधालय हैं। शहर का अस्पताल लगभग १३,००० रोगियों की तथा गांव का लगभग ५३,००० रोगियों की दवादारू करता है। स्त्रियों के लिये २२६ अस्पताल हैं जिनमें से ८२ संयुक्त प्रांत में, ४० पंजाब में, ४२ मद्रास में, १२ सी० पी० में, १८ बङ्गाल में, १४ बम्बई में, ८ सिन्ध में, ५ बिहार में, ४ फ्रंटियर में और १ आसाम में है। औरतों के अस्पताल अधिकांश विदेशी मिशन द्वारा तथा डफ़रिन फण्ड द्वारा चलते हैं। डफ़रिन फण्ड स्त्रियों की डाक्टरी शिक्षा का भी प्रबन्ध करता है। मैटरनिटी और 'चाइल्ड वेलफेयर' का काम कुछ सरकारी सहायता द्वारा और कुछ संस्थाओं द्वारा होता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सरकार इससे कहीं अधिक सहयोग दे सकती है।

स्त्री-डाक्टरों की भी हमारे यहां बहुत कमी है। मेडिकल सरविस में लगभग ४० लेडी-डाक्टर हैं और अन्य ३००० डाक्टरों में से लगभग आधी हैं जो ग्रेजुयेट हैं। अधिकांश इनमें शादी कर लेती हैं और फिर डाक्टरी का नाम भी नहीं लेतीं। हमारे यहां 'वेलफेयर-सेण्टर' भी बहुत कम हैं। १९३८ में इङ्गलैण्ड में ३२६१ 'वेलफेयर सेण्टर' थे और उनमें २८७७ स्वास्थ्य-निरीक्षकायें

(Health Visitors) थीं। ये वहां की ४ करोड़ आबादी पर हैं। इसके विपरीत हमारे यहां १९३९ में इंगलैंड से नौगुनी आबादी पर १०२० ऐसे 'वेलफेयर सेण्टर' थे जिनके यहां स्वास्थ्य-निरीक्षकायें थीं। रजिस्टर्ड दाइयों का भी हमारे यहां यही हाल है। भारत में कुल ६१३५ दाइयां हैं जो रजिस्टर्ड हैं। 'मैटरनिटी और चाइल्ड वेलफेयर' के काम में कुल ७५ या ८० लेडी डाक्टर हैं जिनमें ५० फीसदी ऐसी हैं जो किसी विषय की विशेषज्ञ हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहें और स्त्रियों के स्वास्थ्य की ओर से उदासीन रहकर अपनी सन्तानों के दिन ब दिन दुर्बल होने में सहायक हों। इसमें सन्देह नहीं कि दूसरे देशों में जहां सरकार ने स्वास्थ्य सुधार के लिये विशेष प्रबन्ध किये हैं, वहां हमारे यहां सरकारी प्रबन्ध बहुत ही कम हुआ है। फिर सरकार की ओर से सन्तान-निरोध-सम्बन्धी शिक्षा का अभी तक कोई प्रबन्ध नहीं हो सका। 'मैटरनिटी और चाइल्ड वेलफेयर सेण्टर' केवल जापे के समय बच्चा और जच्चा को आवश्यक सहायता देते हैं, परन्तु सन्तान-निरोध पर उनकी ओर से कोई प्रचारात्मक तथा प्रयोगात्मक प्रबन्ध नहीं होता। हमारी विदेशी सरकार यथासम्भव अपनी प्रजा के धार्मिक अधिकारों की रक्षा की ओट में उसके नाश का कारण बनी हुई है।

सरकार की ओर से इस प्रकार उदासीनता कई साल तक बनी रहेगी। हमें चाहिये कि हम स्वयम् ही इस दिशा में प्रयत्न

करें और डाक्टरी सहायता तथा सन्तान-निरोध सम्बन्धी सहायता देने के लिये संस्थायें बनावें। हमारे देश में रुपये की कमी नहीं, परन्तु उसका अभाव इस कारण है कि वह अयोग्य हाथों में है और धर्म के नाम पर अधिक अधर्म फैलाने के प्रयोगों में लाया जाता है। लूली-लंगड़ी गायों, बकरों, भिखारियों, साधु-सन्यासियों को खिला कर मोटा बनाने के लिये अधिक धन सेठ-साहूकारों की ओर से पहुँचता है, परन्तु समाज-सुधारक और उनके द्वारा संचालित संस्थायें रुपये के अभाव में पंगु बनी रहती हैं।

हमारा अपना विचार है कि अगर इस प्रकार की संस्थायें, जो स्त्रियों की स्वास्थ्य-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार की उन्नति से सम्बन्ध रखती हैं, पढ़ी-लिखी सुयोग्य स्त्रियों द्वारा चलाई जावें तो अधिक सफलतापूर्वक चल सकती हैं और परिणाम भी अधिक आशाजनक होगा। यूरोपियन देशों में इस प्रकार के सामाजिक कामों में स्त्रियों ने आगे बढ़कर काम किया है और ऐसे कामों के लिये धन भी मिला है।

हिन्दू तथा मुसलमान स्त्रियों की संख्या नर्सिङ्ग तथा मिडवाइफ़री में इतनी कम होना हमारा दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है? इसमें सन्देह नहीं कि जिन अस्पतालों में इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है वहां पर अधिक सुविधा क्रिश्चियन, एंग्लो-इण्डियन तथा यूरोपियन लड़कियों को मिलती है, परन्तु कोई कारण नहीं कि हिन्दू तथा मुसलमान लड़कियां वहां जाकर अपने लिये उचित

सुविधायें प्राप्त नहीं कर सकेंगी।

चिकित्सा-सम्बन्धी कार्यों में अधिक लड़कियों का जाना बहुत जरूरी है, परन्तु उससे जरूरी यह है कि जो शिक्षित महिलायें नर्सिङ्ग, डाक्टरी, तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी परीक्षायें उत्तीर्ण कर चुकी हैं वे घर में बैठकर या केवल २-४ बच्चों को जन्म देकर और केवल पारिवारिक जीवन तक अपने आपको सीमित कर अपने कर्तव्य की अवहेलना न करें। केवल धन के कमाने के लिये या विवाह में अच्छा वर पाने के लिये तो वे यह शिक्षा प्राप्त करती नहीं। समाज का उत्थान, उसका क्रियाशील अंग बनना उससे कहीं अधिक श्रेयस्कर कार्य है और इसी में, वर्तमान स्थिति को देखते हुए, एक डाक्टरी व नर्सिङ्ग की शिक्षा-प्राप्त लड़की का चरित्र देखा जा सकता है। एक स्त्री-चिकित्सक या नर्स का केवल पत्नी अथवा माता बनकर अपनी चिकित्सा-सम्बन्धी सेवाओं से स्त्री-जाति को वंचित रखना, चरित्र की दुर्बलता का सूचक है जिसे आज नहीं तो कुछ समय बाद सब विचारशील शिक्षित व्यक्तियों को स्वीकार करना पड़ेगा।

स्त्री-स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुधार-कार्य को सरकार के भरोसे छोड़कर और ऐसी सरकार के भरोसे जो जनता के प्रति उत्तर-दायी नहीं हम अवनति की ओर ही बढ़ेंगे और भविष्य में हमें स्त्रियों के स्वास्थ्य को सुधारने के लिये अधिक त्याग का परिचय देना पड़ेगा ÷।

÷ विश्ववाणी, अगस्त १९४५ में प्रकाशित

व्यवस्थित शिशु-जनन

भारत के पढ़े-लिखे परिवारों में पाश्चात्य की एक नई विचार-धारा घर करने लग गई है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि शिक्षित धनी तथा सभ्य परिवारों में शिशुओं का जनन नितान्त कम किया जारहा है। विज्ञान ने जो तरक्की इन दिनों की है उसके फल-स्वरूप संभोग और जनन-क्रिया को अलग र कर दिया गया है। सन्तान-निरोध के उपाय प्रयोग में लाकर इन परिवारों में, जो एक सीमा तक बच्चों का पालन अच्छी तरह कर सकते हैं, उनकी संख्या एक-एक या दो-दो शिशुओं तक सीमित हो गई है।

इन पढ़े-लिखे, सभ्य और धनी परिवारों में शिशुओं की संख्या इस प्रकार सीमित होजाना और निर्धन तथा मध्यम श्रेणी के परिवारों में निर्बाध शिशु-जनन राष्ट्रीय तथा सामाजिक दृष्टिकोण से उचित नहीं कहा जा सकता। सम्भव है शिशु-जनन समय-विशेष तक, कदाचित अनिश्चित काल तक, विवाहित स्त्री-पुरुषों के अपने विचारों पर निर्भर रहेगा और वे अपनी प्रेम तथा स्वार्थ-भावना से ही प्रेरित होकर शिशु-जनन करेंगे।

हमारे समाज में जीवन का एक महत्वपूर्ण काम बच्चों को

जन्म देना रहा है। विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिये, समाज के प्रचलित नियमों द्वारा, इस बात पर जोर दिया जाता है कि वे अपने पारिवारिक जीवन में एक अच्छी संख्या बच्चों की रखें।

राष्ट्रीय, सामाजिक और पारिवारिक दृष्टि-कोण से यह है भी नितांत आवश्यक। विशेष कर जाति की रक्षा के लिये उसे भविष्य में जीवित रखने के लिये, हमें उसे नया जीवन देते ही रहना पड़ेगा।

हमारे लिये अपनी जन-संख्या को केवल स्थायी रखने के लिये ही प्रत्येक परिवार में कम से कम तीन बच्चों का होना आवश्यक है। अगर औसत कुछ कारणों से इससे नीचे चला जाता है और समाज इसकी ओर ध्यान नहीं देता तो एक समय आसकता है जब बिना अन्य बाह्य कारणों के हम अपने आपको नष्ट कर लें।

जन-संख्या को कायम रखने के अतिरिक्त उससे भी आवश्यक बात हमें यह करनी होगी कि उन वर्गों और जातियों में अधिक शिशु पैदा होने चाहियें जो राष्ट्र को अधिक शक्ति-शाली, अधिक योग्य और अधिक क्रियात्मक बनाने में सहायक हों; जिनके पास उनके पालन-पोषण और श्रेष्ठ नागरिक बनाने के पर्याप्त साधन भी हों।

देश को स्वतन्त्र रखने के लिये, राष्ट्र के निर्माण तथा समाज के उत्थान और स्त्री-पुरुषों के जीवन को अच्छे से अच्छा स्वरूप देने के लिये क्या यह आवश्यक नहीं हो जाता कि हम शिशुओं

का जनन इस प्रकार करें जिससे वे राष्ट्र तथा समाज के श्रेष्ठतम अंग बन सकें ? हम ऐसे राष्ट्र का निर्माण कर सकें जो मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रस्फुटन के लिये उचित स्वतन्त्रता दे सके तथा साथ ही राष्ट्र तथा समाज के सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने में भी सहायक हो। मनुष्य का जीवन जहां समाज पर अवलम्बित है वहां समाज भी मनुष्यों द्वारा ही बनता है।

शिशुओं की राष्ट्र और समाज के लिये जब इतनी आवश्यकता है तब यह भी आवश्यक हो जाता है कि वह केवल उन्हीं स्त्री-पुरुषों को बच्चे पैदा करने की विशेष सहूलियतें दे जो स्वयम् सब प्रकार से स्वस्थ हों। समाज अस्वस्थ स्त्री-पुरुषों पर प्रतिबन्ध लगा दे अथवा शिक्षा द्वारा उन्हें इस योग्य बना दे कि वे समझने लगें कि हमारे लिये इससे अधिक निकृष्ट और कोई काम न होगा कि हम निर्बल, अस्वस्थ तथा अयोग्य सन्तान को जन्म दें। हमारे समाज में उन स्त्री-पुरुषों का घाटा नहीं जो कई ऐसी बीमारियों के शिकार हैं जो आसानी से खून के साथ ही उनके बच्चों में आजाती हैं। मां-बाप का दूषित खून उनके बच्चों में पहुंच जाता है और इस प्रकार समाज में वे बीमारियां अधिकाधिक परिमाण में फैलती जाती हैं। अगर ऐसे स्त्री-पुरुष अपने बच्चों के हित में तथा समाज के हित में ऐसे बच्चों को जन्म देना बन्द कर दें तो वे देश की इतनी ही सेवा कर सकते हैं जितनी वे लोग जो देश की रक्षा में अपना जीवन दे देते हैं।

अगर किसी दूषित बीमारी के कारण ऐसे लोग अपने

आपको स्वस्थ संतान उत्पन्न करने के अयोग्य पाते हैं तो वे, अच्छा तो यही है कि, विवाह ही न करें। थोड़े स्वार्थ को त्याग कर वे समाज के जीवन में अधिक विष फैलाने से अपना हाथ खींच सकते हैं। विवाहित अवस्था में अगर वे अपने रोगी बच्चों को जन्म देने की अपेक्षा अनाथ, निर्धन बच्चों को अपने बच्चे बनाकर उनका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा कर देश के योग्य नागरिक बना सकें तो वे देश-प्रेम और मानव-प्रेम तथा विशाल हृदयता का कितना बढ़िया उदाहरण समाज के अन्य लोगों के सामने रख सकते हैं! इस प्रकार एक बार बच्चों को अपना लेने पर फिर द्वैत की भावना इन बच्चों के प्रति नहीं रह जाती। केवल आरम्भ में ही हमें भावुकता-वश अपनत्व की कमी उनकी ओर से अनुभव होती है। बाद में वात्सल्य-भावना प्रबल होने के कारण तथा सम्पर्क बढ़ जाने से वह कमी जो अपने बच्चों की अनुपस्थिति में हमें अनुभव होती है उसके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता।

देश की इस निपट निरक्षरता और अज्ञानता की अवस्था में अभी यह संभव नहीं हो सकता कि राज्य की ओर से कोई ऐसा कानून बना दिया जाय जिससे इस प्रकार के रोगी स्त्री-पुरुषों को शिशु-जनन से रोक दिया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि तत्सम्बन्धी कानून, एक सीमा तक, हमारे समाज को दूषित करने से रोकेंगे, परन्तु जब तक ऐसे कानूनों के बनाने में हम अपने आपको असमर्थ पाते हैं तब तक इतना तो हम अवश्य कर सकते हैं कि

अपने ऊपर यह भार ले लें कि हम यथा संभव इस पाप में भाग नहीं लेंगे और न दूसरों को लेने देंगे।

स्वस्थ संतान पैदा करने के लिये धनी और पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के स्त्री-पुरुषों के लये यह भी आवश्यक है कि वे अपने शरीर को स्वस्थ और बलवान बनायें। जिस प्रकार कमजोर शक्तिहीन जानवरों के बच्चे निर्बल पैदा होते हैं उसी प्रकार कमजोर स्त्री-पुरुष भी बलवान सन्तान को जन्म नहीं दे पाते।

हमें अपने स्वास्थ्य को बनाने के लिये नियमित रूप से खेल-कूद, व्यायाम वगैरह में भाग लेना चाहिये। हमें चाहिये कि केवल रुपया कमाने की मशीनें न बनकर अपने शरीर को बलिष्ट बनाने के लिये अवकाश अवश्य निकालें। दिन-रात कमाने की चिन्ता में किसी सुन्दर भविष्य के स्वप्न देखकर, अथवा आमोद-प्रमोद और जीवन-मान के अत्यधिक ऊंचा करने के साधन एकत्रित करने में लगे रहकर अथवा रुपये के मोह में फंसकर हम अगर अपने शरीर की ओर से उदासीन रहते हैं तो अवश्य ही हम अपने प्रति तथा अपनी जाति व देश के प्रति अपना कर्तव्य अदा नहीं करते। अगर पुरुषों को ब्रिज, ताश, शतरंज, कैरम वगैरह खेलने के लिये अथवा गप्पबाजी के लिये समय मिल सकता है तो शरीर के बलिष्ट बनाने के लिये क्यों नहीं? यही बात स्त्रियों के लिये भी है। निर्धन तथा मजदूर-पेशा स्त्रियों की बात जाने दीजिये। हमारे यहां की मध्यम वर्ग की तथा धनाढ्य स्त्रियों को इतना समय मिल सकता है कि

वे अपने शरीर की ओर स्वस्थ तथा सशक्त बनाने की दृष्टि से ध्यान दे सकें। इस वर्ग की स्त्रियां, न जाने कितना समय, बुनने, कसीदा काढ़ने, अनियमित संतान उत्पन्न करने तथा पालने और व्यर्थ के रीति-रिवाजों को पूरा करने में बिता देती हैं। वे चाहें तो खेल-कूद और व्यायाम आदि के लिये समय निकाल सकती हैं। जिन परिवारों में स्त्री-पुरुष दोनों में इस प्रकार की भावनायें पैदा हो जावें वे बड़ी आसानी से स्वयम् तथा अपने बच्चों के लिये कई पारिवारिक खेलों का प्रबन्ध कर सकते हैं। दो-दो चार-चार परिवार मिलकर ऐसे क्लब अथवा मंडलियां बना सकते हैं जहां पर उनके शरीरों को पर्याप्त व्यायाम मिल सके। जिन स्थानों में इतने खुले स्थान इन कामों के लिये नहीं मिल सकते वे अपने घरों में भी व्यायाम के साधन एकत्रित कर सकते हैं। हमारी अपनी देशी व्यायाम की प्रणालियां, आसन वगैरह किसी भी स्थान पर किये जा सकते हैं। आज संसार में जितने भी राष्ट्र आगे बढ़े हुए हैं उनके मनुष्यों के जीवन का अगर हम अध्ययन करें तो पता चलेगा कि कितना समय वे खेल-कूद में व्यतीत करते हैं। जापान का राष्ट्रीय खेल जुजुत्सू, युरोप के बौक्सिंग, गोल्फ, क्रिकेट, फुटबॉल, हॉकी, पोलो स्केटिंग वगैरह ऐसे खेल हैं जिनमें वहां के लोग एक विशेष संख्या में भाग लेते हैं। केवल विद्यार्थियों तथा पेशेवर खिलाड़ियों के लिये ही ये खेल नहीं, परन्तु वहां के विवाहित पुरुषों, व्यापारियों, सरकारी कर्मचारियों वगैरह सबको इनमें

भाग लेने का शौक रहता है। राष्ट्र के उत्थान में खेलों का बड़ा स्थान है। बगैर इनके लोग कायर, उत्साहीन, आलसी और असंगठित रह जाते हैं।

संतान की दृष्टि से विवाह भी एक निश्चित आयु में हो जाना आवश्यक है। युरोप, अमेरिका के कई देशों में विवाह अधिकांश बड़ी उम्र में होने लगे हैं। हमारे यहां पार्सी समाज में भी यही बात है। पार्सी समाज में जीवन-मान इतना ऊंचा बन गया है कि पुरुषों के लिये अपने पूर्ण यौवन में अर्थात २४ व २५ वर्ष की आयु में विवाह करना एक समस्या हो जाती है। हमारे यहां निम्नतर जातियों में विवाह छोटी आयु में हो जाते हैं। निर्धनता, जीवन-मान के विचार उनके अन्दर न होने के कारण, विवाह के यौवनावस्था से पूर्व ही होने में भी कोई रुकावट नहीं डालती। साधारण पढ़े-लिखे परिवारों के युवकों में आय की कमी और कुछ जीवन की आवश्यकताओं के बढ़ जाने के कारण तथा विवाह और शिशु-सम्बन्धी शिक्षा और जीवन के राष्ट्रोपयोगी दृष्टिकोण के अभाव में विवाह को जितना अधिक से अधिक हो सके टाला जाता है। जिन परिवारों में निर्धनता विवाह के मार्ग में बाधा उपस्थित नहीं करती वहां विवाह लड़कियों के १६ से २० वर्ष की आयु तक और लड़कों के २२ से २५ वर्ष तक अगर कर दिये जावें तो संतान-उत्पादन की दृष्टि से अवश्य ही इस प्रकार के विवाह अधिक हितकर सिद्ध हो सकते हैं। आज उचित शिक्षा के अभाव में पढ़े-लिखे युवक

और युवतियों द्वारा विवाह का भार देर से उठाने के कारण संतान के पूर्ण विकास के लिये समय कम रह जाता है। विपरीत इसके निम्नतर जातियों में विवाह बचपन में ही कर देने के कारण जो संतान १३ से १६ साल के माता-पिता को हो जाती है वह निर्बल, अस्वस्थ और अधिकांश जीवित भी कम रह पाती है। साथ ही यह भी हम लोगों को न भूलना चाहिये कि जहां स्त्रियों को प्रथम संतान ३० वर्ष के बाद पैदा करने का अवसर मिलता है वहां उन्हें प्रसव में विशेष कष्ट उठाना पड़ता है क्योंकि उनके अंगों में जो लचक होती है वह कम पड़ जाती है। हमारे यहां की मध्यम वर्ग की लड़कियां विशेषतः इसका अधिक शिकार बन रही हैं। वे मातृत्व-पद से आवश्यकता से अधिक समय के लिये वंचित कर दी जाती हैं। रुपया पैदा करने की भावना, माता-पिता में विवाह-योग्य लड़के-लड़कियों के प्रति और विवाहित संतान के प्रति मित्रवत् और उदार व्यवहार का अभाव, धन-संचय और उससे मोह, जीवन-मान के विकृत आदर्श जो पाश्चात्य की नकल भर हैं, विवाह-योग्य लड़कियों को घर की चहार-दीवारी के अन्दर बन्द कर रख लेना और जाति और उपजाति के संकुचित दायरे में लड़के-लड़कियों की उचित प्रेम-भावनाओं और आवश्यकताओं पर भी आघात कर विवाह करना अगर राष्ट्र की मानवोपयोगी भावनाओं के ऊपर स्थान न पा सकें तो कई विवाह उचित आयु में होकर देश की शक्ति के ह्रास को रोका जा सकता है।

सन्तान को नीरोग, स्वस्थ, और शक्तिशाली बनाने के लिये जहां माता-पिता की शारीरिक शक्ति, आरोग्यता और उनका उम्र-विशेष पर विवाह होना आवश्यक है वहां विवाह के बाद शिशु-जनन पर भी ध्यान रखना अनिवार्य है।

हमारे यहां के मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के परिवारों में प्रति वर्ष अथवा प्रति दूसरे वर्ष एक नये शिशु को जन्म देना कई कारणों से बड़ा हानिकारक सिद्ध हो रहा है। अधिकांश में हमारे पास इतने साधन नहीं कि हम बच्चों के पालन के लिये नौकर तथा आया वगैरह रख सकें, न ही समाज अथवा देश की ओर से ऐसा कोई सामूहिक प्रबन्ध देश की पराधीन अवस्था में बड़े पैमाने पर हो सकता है जहां बच्चों को पालन-पोषण के लिये रख दिया जाय। परिणाम यह होता है कि पालन-पोषण का सारा भार उस अशिक्षित, निर्धन मां पर पड़ जाता है जिसे बच्चों के पालन के अतिरिक्त घर के अनेकों और धन्धे भी करने पड़ते हैं।

घर के सारे काम-धन्धे के साथ मां को एक या दो वर्ष का एक बालक भी अच्छी तरह पालना सरल नहीं। जितना समय एक छोटे बालक को देना आवश्यक होता है उतना उसे न मिलने के कारण उसकी देख-रेख नहीं हो पाती। उसके खान-पान का ही न नियत समय पर प्रबन्ध हो पाता है, न ही उसके खेल-कूद का और कपड़े वगैरह का। बच्चा दिन भर रोता-चिल्लाता रहता है या उसे अफीम वगैरह की आदत डालकर माता उससे कुछ

समय के लिये मुक्ति पाने का प्रबन्ध कर लेती है। अगर छोटे-छोटे दो-तीन बच्चों का भार घर में अकेली रहकर उसे सम्भालना पड़े तो और भी मां की दशा सोचनीय हो जाती है। बच्चों का जिस प्रकार लालन-पालन होना चाहिये वह न होकर वे ईश्वर के भरोसे छोड़ दिये जाते हैं। कई इस सेवा-सुश्रूषा के अभाव में मर जाते हैं। जो बचते हैं वे भी अस्वस्थ, निर्बल और चिड़चिड़े हो जाते हैं।

निर्धनता, अशिक्षा, और पर्याप्त शिशु-पालन का प्रबन्ध न होने के कारण हमारे यहां शिशुओं की मृत्यु का औसत बहुत ही अधिक है। दूसरे देशों के आंकड़ों से तुलना करने पर आपको उपरोक्त कथन की सच्चाई प्रकट हो जावेगी:—

शिशुओं की मृत्यु

प्रति हजार (जीवित पैदा होने वाले बच्चों में)

दक्षिणी अफ्रीका	(१९३९)	५०
कनाडा	(१९३९)	६२
अमेरिका	(१९३९)	४८
सीलोन	(१९३९)	१६६
भारतवर्ष	(१९३८)	१६७
जापान	(१९३८)	११४
जर्मनी	(१९३९)	६०
आस्ट्रिया	(१९३९)	७४
बेलजियम	(१९३८)	७२

डेनमार्क	(१६३६)	५८
स्पेन	(१६३८)	११६
फ्रांस	(१६३६)	६७
आयर्लैंड	(१६३६)	६५
इटली	(१६३६)	६७
नीदरलैंड्स	(१६३६)	३४
पोलैंड	(१६३८)	१४०
रुमानिया	(१६३६)	१७६
युनाइटेड किंगडम	(१६३८)	५५
इंगलैंड और वेल्स	(१६३८)	५२
स्वीडन	(१६३६)	३६
स्विटजरलैंड	(१६३६)	४३
आस्ट्रेलिया	(१६३८)	३८

शिशुओं की पैदायश

प्रति हज़ार (जन-संख्या पर)

दक्षिणी अफ्रीका	(१६३६)	२५.४
कनाडा	(१६३६)	२०.३
अमेरिका	(१६३६)	१७.२
मिश्र	(१६३८)	४३.४
ब्रिटिश भारत	(१६३८)	३४.१
जापान	(१६३८)	२६.७
फ्रांस	(१६३६)	१४.६

ग्रीस	(१९३९)	२३.५
जर्मनी	(१९३९)	२०.३
इंगलैंड	(१९३९)	१५.५
इटली	(१९३९)	२३.५
आस्ट्रेलिया	(१९३९)	१७.७

ऊपर दो तालिकायें दी गई हैं। एक शिशुओं की मृत्यु-सम्बन्धी है और दूसरी उनकी पैदायश-सम्बन्धी। दोनों तालिकाओं की तुलना से यह पता लगता है कि हमारे यहां पैदायश की संख्या साधारण तौर पर अन्य देशों से अधिक होते हुए भी शिशुओं में मृत्यु दूसरे उन्नतशील देशों की अपेक्षा बहुत अधिक है। कितना राष्ट्र और समाज की शक्ति का नुक्सान है ?

इस प्रकार शिशुओं का निर्बाध जनन एक ओर तो उनके अपने जीवन को संकट में डालता है और दूसरी ओर माता पर भी इसका कुप्रभाव पड़ता है।

क्या हम इस अनियमित जनन को राष्ट्र, समाज और परिवार के हितों में रोक सकते हैं ? क्या इस प्रकार के निरोध से समाज के एक विशिष्ट भाग में शिशुओं की कमी न हो जावेगी ? क्या निर्धन, निम्नतर जातियों में, जिनका जीवन हमारे समाज में आज दिन तक भी पशुओं के जीवन से समानता रखता है, शिशुओं का जनन निर्बाध गति से होने से हमारा समाज अधोगति की ओर नहीं जायगा अर्थात कोई समय आ सकता है जब हमारे यहां नेताओं, विद्वानों, कलाविदों, आविष्कारकों और

रचनात्मक कार्य करने वालों की कमी अनुभव होने लगेगी क्योंकि समाज के जिस भाग में से मनुष्यत्व के ये अमूल्य रत्न निकलते हैं उसका अभाव हो जायगा ? इसलिये इन महत्वपूर्ण प्रश्नों को सम्मुख रखकर ही हम सन्तान-निरोध के कोई उपाय काम में लासकते हैं। कहीं ऐसा न हो कि हम खाई में से निकलें और कुंवे में जा गिरें।

हम ऊपर यह लिख चुके हैं कि हमारा यह कार्यक्रम राष्ट्र की दृढ़ भीत पर ही खड़ा हो सकता है। मनुष्य के स्वार्थी स्वभाव पर नहीं, उसके उदात्त समाजोपयोगी विचारों पर ही।

इसमें सन्देह नहीं कि उन स्त्री-पुरुषों को जो क्षय, प्रमेह और खून की ऐसी ही अन्य बीमारियों के शिकार हैं जिनके कारण हमारे भावी समाज में अधिक विष के बीज बोये जाने की सम्भावना है उन्हें सन्तान-निग्रह करना ही चाहिये। कई घृणित बीमारियों के रोगियों की इंजेकशन द्वारा जनन-शक्ति ही सदैव के लिये दूर कर देना आवश्यक हो जाता है।

सन्तान-निग्रह के उपायों को प्रयोग में लाना उन स्त्री-पुरुषों के लिये भी हितकर सिद्ध होगा जो कई ऐसी लम्बी बीमारियों के शिकार बन जाते हैं जिन्हें दूर करने के लिये दो-दो चार-चार वर्ष तक लग जाते हैं। पुरुष की अपेक्षा स्त्री पर सन्तान पैदा करने का भार अधिक पड़ता है। कई घटनाएं ऐसी हमारे सामने आती हैं जहां स्त्रियां अपनी कुछ बीमारियों के कारण विवाह के बाद गर्भवती होकर सन्तानोपत्ति का भार न सहन

कर या तो सदैव के लिये अपने जीवन से हाथ धो बैठती हैं या अपने गिरे हुए स्वास्थ्य को और भी गिराकर क्षय वगैरह की शिकार बन जाती हैं। ऐसी स्त्रियों को सन्तानोत्पत्ति के कष्टों से बचाना आवश्यक हो जाता है। ऐसी हालतों में पति अथवा पत्नी दोनों का कर्तव्य यह हो जाता है कि वे जो भी कदम आगे रखें खूब सोच-समझ कर रखें। आरम्भिक काल की छोटी-मोटी भूलें अथवा शिशु के लिये अतीव उत्सुकता उनके भावी जीवन को दुःखमय न बना डालें।

अतिरिक्त इसके वे लोग हैं जिनके जीवन में निर्बाध शिशु-जनन उनके स्वास्थ्य और पारिवारिक जीवन पर अनिष्ट-कारी प्रभाव डालता है। उनके पास इतने साधन नहीं कि वे प्रति वर्ष अथवा प्रति दूसरे वर्ष बच्चे पैदा होने की क्रिया के जारी रहने पर अपना स्वास्थ्य भी ठीक रख सकें और शिशुओं का लालन-पालन भी ठीक कर सकें। इस श्रेणी में मध्यम वर्ग के लोगों को विशेष रूप में गिनना चाहिये।

जो संभोग नियमित मात्रा में स्वास्थ्य के लिये तथा विवाहित जीवन व्यतीत करने के लिये आवश्यक है वह शिशु-जनन के हिसाब से इतना अधिक हो सकता है कि प्रति वर्ष अथवा प्रति दूसरे वर्ष बच्चे पैदा हो सकते हैं। संभोग और शिशु-जनन में जो सम्बन्ध है उसके स्वाभाविक रूप में, माता के स्वास्थ्य और परिवार के सुखमय जीवन का ध्यान रखकर, बाधा उपस्थित करना नितांत वांच्छनीय हो जाता है। सन्तान-निरोध के उपाय काम

में लाकर ये लोग अपनी इच्छानुसार प्रति दूसरे, तीसरे अथवा चौथे वर्ष बच्चों को पैदा कर सकते हैं। यदि तीन वर्ष के अन्तर पर किसी परिवार में बच्चे पैदा हों तो २१ वर्ष में अर्थात माता-पिता ४० व ४५ वर्ष की आयु तक ८ बच्चे पैदा कर सकते हैं। चूंकि इस प्रकार जो तीन वर्ष के अन्तर पर बच्चे पैदा होंगे उनका लालन-पालन अच्छी तरह हो सकेगा, इसलिये उनके शैशव-काल में मरने का डर कम हो जावेगा। अगर समाज को औसतन चार भी हृष्ट-पुष्ट सदस्य मिल गये तो उसका लाभ तो होगा ही, परिवार का जीवन भी सुखमय बन सकेगा और माताएँ केवल बच्चे पैदा करने की मशीनें-मात्र तथा पिता कमाने की मशीनें-मात्र नहीं रह जावेंगे। उन्हें बहु-मुखी उन्नति करने के अधिक अवसर मिल सकेंगे। यहां पर हम विशेष तौर पर यह कह देना चाहते हैं कि समाज को अच्छे घराने के बच्चों की आवश्यकता सदैव ही बनी रहती है और उसको पूरा करना सम्पन्न, पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुषों का अपना काम है। अपने स्वार्थ के वस होकर अगर वे देश की इस आवश्यकता को स्वयम् अनुभव नहीं करते तो अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी मार रहे हैं तथा देश और जाति से मनुष्य के गर्व करने योग्य वस्तुओं का अभाव कर रहे हैं।

मध्यम वर्ग के साथ निम्न वर्ग अर्थात कृषक जातियों में तथा मजदूरों वगैरह में भी सन्तान-निरोध का सन्देश पहुंचाना होगा। सन्तान-निरोध के उपायों के आधार पर ही इनमें शिशुओं

की अत्यधिक मृत्यु तथा उनकी आवश्यकता से अधिक बढ़ती हुई जन-संख्या कम की जा सकती है। इसकी आवश्यकता है—उनके अपने हित के लिये तथा समाज को उनके असंस्कृत प्रभाव से मुक्त रखने के लिये।

सन्तान-निग्रह की उन विवाहित स्त्री-पुरुषों को भी आवश्यकता पड़ सकती है जो अपना अधिकांश समय देश और समाज के पुनरुत्थान में लगाना चाहते हैं। आज देश की स्वतन्त्रता को कायम रखने में भारत के कितने लाल लगे हुए हैं। कई बच्चों के लालन-पालन के कारण अथवा उनका समुचित प्रबन्ध न कर सकने के कारण वे सफलतापूर्वक इस ओर कदम नहीं रख पाते। उनके लिये अविवाहित रहना अत्यन्त कठिन है परन्तु निस्सन्तान रहना इतना नहीं।

शिक्षा का उद्देश्य

अपनी ६० प्र० श० जन-संख्या को शिक्षित करना स्वाधीन भारत के लिये एक महत्वपूर्ण कार्य है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि हम यह भली प्रकार निश्चित कर लें कि किस उद्देश्य को लेकर हमें शिक्षा का कार्यक्रम आगे बढ़ाना चाहिये। अभी केवल इने-गिने लड़के-लड़कियां शिक्षा प्राप्त कर पाते हैं। इनको शिक्षा देने का उद्देश्य ब्रिटिश सरकार ने योग्य क्लर्क बनाना रखा हुआ था। उच्च शिक्षा जो विश्व-विद्यालयों में दी जाती है वह भी भारतीय जीवन से इतनी दूर होगई है कि बजाय इसके कि वह मनुष्य-जीवन के विकास में सहायक हो, उसने शिक्षित भारतीयों के जीवन को विश्रृंखल कर दिया है। अतः जहां भारतीय जीवन-सुधार की अन्य अनेकों समस्याएं हमारे सम्मुख हैं वहां शिक्षा कम महत्व नहीं रखती।

बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करते हुए आप यह चाहेंगे कि उनको शिक्षा इस उद्देश्य से दी जाय कि अपने जीवन-यापन के आवश्यक साधन वे जुटा सकें। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये कि जिससे जीवन-निर्वाह के लिये उन्हें परावलम्बी न होना पड़े। अतः शिक्षा का प्रथम उद्देश्य लड़के-लड़कियों को इस

योग्य बनाना है कि उन्हें जीवन-निर्वाह के साधनों का ज्ञान भली प्रकार हो ।

परन्तु जीवन-निर्वाह के साधन एकत्रित करने तक ही जो शिक्षा रह जाती है वह अधूरी ही कही जायगी। और फिर कई ऐसे धन्धे हैं कि जिनके सीखने में अधिक समय भी नहीं लगता। एक मजदूर, भंगी, नाई, चमार, बढ़ई, किसान वगैरह के ऐसे धन्धे हैं कि जिनके लिये लड़के- लड़कियां साल दो साल की शिक्षा प्राप्त कर ही अपने जीवन-निर्वाह के साधन एकत्रित कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त कई ऐसे भी धन्धे हैं कि जिनके सीखने में कई वर्ष लग जाते हैं जैसे डाक्टरी, वकीली, अध्यापन-कार्य वगैरह। साथ ही कई शिक्षित व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह के साधन इस प्रकार के हैं कि उन्हें उद्योग-धन्धों की कोई अधिक शिक्षा लेने की आवश्यकता भी नहीं होती और अपनी आम शिक्षा के आधार पर ही उनका यह काम बखूबी चल सकता है। अतः इन सब बातों को देखते हुए जीवन-निर्वाह के लिये जहां विशेष शिक्षा देने की आवश्यकता प्रतीत होती है वहां उसके लिये केवल कुछ उद्योग-धन्धों को छोड़कर शेष का काम प्रारम्भिक शिक्षा के साथ साथ ही चल सकता है ।

उद्योग-धन्धों की शिक्षा के साथ ही स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा तथा स्वास्थ्यकर व्यायाम, खेलों वगैरह का भी प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों में प्रबन्ध होना चाहिये । हमारे अधिकांश

प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के केन्द्रों के पास लड़कों के अध्ययन के ही पूरे साधन नहीं होते। छोटे छोटे गली-कूचों में, अस्वस्थकर वातावरण में कई प्रारम्भिक शिक्षा के केन्द्र खोले जाते हैं, जहां पर कि पर्याप्त प्रकाश भी नहीं पहुंचता। बच्चों के खेलने-कूदने की वहां जगह नहीं होती। इस प्रकार की पाठ-शालाएं अधिकतर सार्वजनिक चन्दों पर चलती हैं और वे हमेशा ही निर्धनता से मैत्री किये रहती हैं। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह इन पाठशालाओं को अधिक आकर्षण का केन्द्र बनाने का प्रयत्न करे तथा राज्य द्वारा संचालित स्कूलों को सब प्रकार से आकर्षण का केन्द्र बनाकर, सार्वजनिक पाठशालाओं को सहायता देकर तथा उनके सामने अपने स्कूलों का आदर्श रखकर उन्हें भी बच्चों के स्वास्थ्य की दृष्टि से साधन-सम्पन्न करने में सहयोग दे।

बच्चों के शारीरिक सुधार के लिये जहां व्यायाम और खेलों का प्रबन्ध शिक्षा-केन्द्रों में ही होना नितान्त आवश्यक है वहां उनके लिये नाश्ते का प्रबन्ध भी होना चाहिये। नाश्ते में स्वास्थ्य-वर्धक खाद्यपदार्थ तथा दूध वगैरह का स्कूल की ओर से प्रबन्ध होना चाहिये। स्कूल में बालक पांच-छः घण्टे रहते हैं। इतने काल तक बगैर कुछ खाये रहना बालकों के लिये हानि कर है। गरीब बच्चे अपने साथ कुछ खाने को लाते भी नहीं। वैसे भी बच्चों के लिये अपने अपने घर से अपने साथ खाना लाना न तो बच्चों को ही सुविधाजनक रहता है और न उनके मां-बाप के

लिये ही। इसके बजाय अगर स्कूलों में दूध तथा कुछ और नाश्ते की चीजों का प्रबन्ध स्कूल द्वारा हो तो बच्चों के स्वास्थ्य के लिये अधिक लाभप्रद हो सकता है।

इंगलैंड के अधिकांश स्कूलों में बालकों के स्कूल में नाश्ते पर विशेष ध्यान दिया गया है। उसके फलस्वरूप बच्चों के स्वास्थ्य में आशातीत परिवर्तन भी देखने को आया है। निर्धन बालकों को स्कूल में स्वास्थ्यकर नाश्ता देने पर, देखा गया है कि, उनके वजन में वृद्धि हुई तथा क़द में भी वृद्धि हुई। शरीर पर स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक भोजन का प्रभाव देखने के लिये इंगलैंड में उन स्कूलों के लड़कों की नाप-तोल की गई जिनमें अधिकांश उच्च मध्यम वर्ग तथा धनिकों के लड़के-लड़कियां शिक्षा पाते हैं। उनकी नाप-तोल करने पर यह पता चला कि निर्धन लड़कों के मुक़ाबले में लगभग औसतन तीन इञ्च वे लम्बे हैं। इसके साथ ही निर्धन लड़कों में, स्कूल में दूध तथा अन्य नाश्ते के प्रयोग से, जो वजन तथा क़द में बढ़ती देखने को मिली उससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अगर बच्चों को शरीर के लिये आवश्यक पुष्टिकर भोजन और वह भी समय विशेष पर मिले तो उनका स्वास्थ्य तथा क़द वगैरह भी बढ़ सकता है और नस्ल-सुधार का यह उपाय अधिक सुविधाजनक, सरल तथा व्यावहारिक है बजाय इसके कि केवल सुयोग्य माता-पिताओं को ही बच्चे पैदा करने दिया जाय।

शिक्षा का दूसरा प्रमुख उद्देश्य लड़के-लड़कियों को श्रेष्ठ

नागरिक बनाना है। उन्हें राज्य का स्वरूप क्या है, राज्य के प्रति उनका कर्तव्य क्या है तथा उनके अपने अधिकार क्या हैं इसकी शिक्षा भी दी जानी चाहिये। प्रजातंत्र राज्य-प्रणाली की सफलता का आधार जहां प्रत्येक नागरिक का शिक्षित होना है वहां राज्य-सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करना भी है। एक अशिक्षित नागरिक पुस्तकालयों, पत्रों तथा अन्य नागरिक शिक्षा के जो साधन हैं उनसे लाभ नहीं उठा सकता। परन्तु जो विद्यार्थी उचित और अनुचित, ग्राह्य और अग्राह्य, उपादेय तथा अनुपादेय में भेद नहीं कर सकता वह भी मशीन के इस युग में जब अनेकों पुस्तकें, पत्र, चित्रपट और रेडियो वगैरह विभिन्न विषयक विचारों तथा परस्पर विरोधी विचारों का प्रसार कर रहे हैं यह समझने में असमर्थ होगा कि उसे इनमें से किसको अपनाना चाहिये।

प्रजातन्त्र राज्य-प्रणाली विचार-प्रसार के लिये स्वतंत्रता देती है। पुस्तकें तथा लेख विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न विचारों तथा बिलकुल विरोधी विचारों को लेकर प्रकाशित होते हैं। पत्रों में भी इसी प्रकार कई विरोधी योजनाओं पर विचार होता है। इसलिये प्रजातंत्र राज्य-प्रणाली में यह आवश्यक है कि उसका नागरिक स्वयम् विवेचनात्मक अध्ययन द्वारा अपने जीवन के विकास के साधन चुने।

इसमें सन्देह नहीं कि पत्रों, पुस्तकों, चित्रपटों, रेडियो वगैरह पर श्रेष्ठ नागरिक बनाने के उद्देश्य से नियन्त्रण की आवश्यकता

अब प्रजातन्त्र सरकारें भी अनुभव करने लग गई हैं, परन्तु विचार-स्वतंत्रता का अधिकार जो कई वर्षों से लगातार सरकार से लड़कर पत्रकारों तथा लेखकों वगैरह ने प्राप्त किया है वह फिर सरकार के हाथ में नहीं दिया जासकता, अन्यथा सरकार की निरंकुशता के विपरीत आवाज़ उठाने वाले सब साधन नागरिकों के हाथ से चले जावेंगे और निरंकुश शासन प्रजातन्त्रवाद का गला घोट देगा। जब तक पत्र प्रकाशक अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह नहीं समझते और केवल व्यापारिक दृष्टिकोण को रखकर बगैर पाठकों की रुचि परमार्जित करने का ध्यान रखते हुए, पत्र प्रकाशित करते जावेंगे, पाठकों का उत्तरदायित्व अधिक रहेगा और उनकी शिक्षा का यह एक विशेष कार्य होगा कि वे नीर-क्षीर विवेचन की योग्यता भी प्राप्त करें।

साधारण शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति नागरिक शिक्षा का ज्ञान पत्रों, पुस्तकों, चित्रों तथा रेडियो से प्राप्त करते हैं। इनमें से अधिक प्रभाव पत्रों का होता है जो जन-साधारण मामूली से दामों पर अर्थात् दो-चार पैसे में प्राप्त कर सकते है। यद्यपि इस महायुद्ध के बाद हमारे यहां के पत्रों में भी इस ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है कि पत्रों की बिक्री किस प्रकार बढ़े और ऐसे साधन जैसे पहेलियां, चुटकिले, निम्न श्रेणी के किस्से-कहानियां, सनसनीदार उल्टी-सीधी खबरें, जो आसानी से ही मनुष्य का ध्यान अपनी ओर खैंच लेती हैं, ढूंढे जाने लगे हैं। अतः अब ऐसे पत्रों से यह आशा करना कि वे पत्रों की नीति

और सम्पादन श्रेष्ठ नागरिक बनाने के उद्देश्य से करेंगे, व्यर्थ ही प्रतीत होता है। इंगलैंड में इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने के लिये एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति हुई है।

इस रॉयल कमीशन के सम्मुख यह प्रमुख प्रश्न है कि इन पत्रों पर किस रूप में नियन्त्रण लगाया जाय जिससे कि वे जनता की रुचि परिमार्जित करने की ओर अग्रसर हों। उनके सामने तीन योजनायें हैं:—(१) पत्र सब राज्य के बना दिये जायं; (२) उनके ऊपर नियन्त्रण लगाया जाय और उन्हें निर्देश किया जाय कि वे अमुक नीति पर चलें; (३) पत्र व्यक्तिगत सम्पत्ति न रखकर उन्हें संस्थाओं द्वारा संचालित कराया जाय।

यह रॉयल कमीशन किस निर्णय पर पहुँचता है यह कहना तो कठिन है परन्तु इतना अवश्य है कि पत्रों की व्यावसायिक वृत्ति के साथ ही उनके शिक्षा देने के अंग को भी पुष्ट किया जाना ही चाहिये और सरकार की ओर से पत्रों पर इसके लिये दबाव डाला जाना चाहिये।

पत्रों के बाद नागरिक शिक्षा के बड़े साधन चल-चित्र हैं। यद्यपि इस पर सरकार की ओर से नियन्त्रण आरम्भ से ही रहा है, परन्तु विदेशी सरकार जिस दृष्टिकोण से नियन्त्रण करती थी वह हमें अशिक्षित रखने के लिये होता था। अतः अब नियन्त्रण का रूप यह होना चाहिये कि अधिक से अधिक चित्र इस प्रकार के निकलें कि जिनके द्वारा जनता के ज्ञान में वृद्धि हो तथा वे प्रजातन्त्र के अच्छे पोषक बन सकें।

नागरिकता के लिये जो शिक्षा स्कूलों में दी जाय उसमें धार्मिक शिक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिये अथवा नहीं यह भी विचारात्मक विषय है। भारतीय जीवन में मजहब जितना अधिक घुसा हुआ है उतना अन्य देशों में नहीं ? हमारा खाना-पीना, रहन-सहन, पढ़ना-लिखना, पूजा-पाठ, मताधिकार, प्रजातन्त्र राज्य-संचालन के लिये पार्टियां सब का आधार मज़हब ही है। मजहब ने सिखों और मुसलमानों को विशेष रूप से अधिकांश भारतीयों से अलग कर दिया है। वैसे तो हिन्दुओं में मत-मतान्तर के कई झगड़े हैं, फिर भी हिन्दू-धर्म के चिन्ह चोटी, जनेऊ और तिलक वगैरह अब विशेष महत्वपूर्ण नहीं रहे। केवल निर्धन, अशिक्षित और कट्टर धर्मानुयायियों द्वारा ही ये प्रयोग में लाये जाते हैं। इस प्रकार कई मत-मतान्तरों और मजहबों के होते हुए राज्य की ओर से किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करना कठिन ही नहीं दुष्कर भी है। विभिन्न स्कूलों में विभिन्न मजहबों की शिक्षा देकर एक नागरिक को दूसरे नागरिक से अलग रखना भी राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनुचित ही कहा जायगा।

विधान परिषद् में (१) राज्य की ओर से धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध स्कूलों में किया जाय (२) धार्मिक शिक्षा देने वाले स्कूलों को रुपये की तथा अन्य मदद दी जाय (३) धार्मिक शिक्षा देने वाले स्कूलों को प्रमाण-पत्र दिया जाय—इन प्रश्नों पर गरमागरम बहस हुई जिसके परिणाम-स्वरूप इतना तो निश्चय हुआ कि

राज्य का कोई धर्म न होने से राज्य किसी भी धर्म की शिक्षा देने को तैयार नहीं। इसी आधार पर राज्य न तो धार्मिक शिक्षा देने वाले स्कूलों को आर्थिक सहायता देने को तैयार है और न ही उनको प्रमाण-पत्र।

मैं समझता हूं कि विधान-परिषद् का यह निश्चय वास्तव में बुद्धिमतापूर्ण है, परन्तु साथ ही राज्य की ओर से यह प्रयत्न जारी रहना चाहिये कि मत-मतान्तरों के ये झगड़े, जिन्होंने हमारे नागरिक जीवन को कलुषित तथा विषाक्त कर दिया है, शीघ्र से शीघ्र कम कर दिये जायं। मजहब का सार्वजनिक या राजनैतिक जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, वह अधिकांश व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत वस्तु है और वह नागरिक जीवन में विभिन्नता पैदा करने के लिये तथा पार्टियां बनाने के लिये कदापि भी प्रयोग में नहीं लाया जाना चाहिये। राज्य को ऐसी पार्टियों को न पनपने देना ही समाज के लिये हितकर है।

मेरा विचार है कि राज्य की ओर से अपने स्कूलों में विशेषकर तथा सहायता पाने वाले और प्रमाणित स्कूलों में भी नागरिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाना चाहिये। विपरीत इसके व्यक्ति विशेष के तथा संस्थाओं के स्कूलों पर भी विशेष निरीक्षण रखना चाहिये ताकि उन स्कूलों में भी जो शिक्षा दी जाय वह इस प्रकार की न हो कि जिससे हमारे नागरिक जीवन में अधिक विषमता फैलने की संभावना हो।

मसजिदों, मन्दिरों, गिरजाघरों, गुरुद्वारों वगैरह द्वारा जो

स्कूल खोले गये हैं उन पर राज्य की अधिक देख-रेख होनी चाहिये। इन्हीं स्कूलों में अपने विशेष मजहब-सम्बन्धी शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता है और यहीं से नागरिक जीवन में विष घोला जाता है जिसका आधार संकुचित मजहब होता है, असहिष्णुता होती है, विषमता होती है, वैमनस्य, ईर्षा तथा द्रोह होता है।

मजहबी उसूलों में नैतिकता तथा नागरिक शिक्षा सम्बन्धी वे नियम जो श्रेष्ठ नागरिक बनाने में काम में लाये जा सकते हैं, तथा विभिन्न धर्मावलम्बियों में अन्तर कम करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं उन्हें राज्य नागरिक शिक्षा का आधार बनाकर (जहां पर धार्मिक शिक्षा-केन्द्रों को सहयोग न देकर उनका प्रभुत्व कम करेगा) और अधिक व्यापक रूप देकर निर्माण-कार्य का काम करेगा जो मजहब के वर्तमान अनिष्टकारी प्रभाव को कम कर उसके समाजोपयोगी व शिव रूप को नागरिक शिक्षा तथा दार्शनिक शिक्षा द्वारा परिमार्जित तथा परिवर्धित करेगा।

नागरिकता की शिक्षा में किन-किन विषयों को पढ़ाया जाना चाहिये उनके विस्तृत विवेचन में मैं यहां नहीं पड़ना चाहता। वैसे भूगोल, इतिहास, कानून, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति का अध्ययन वगैरह सब नागरिकता की शिक्षा से सम्बन्ध रखते हैं और राज्य की ओर से इस ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। अभी तक हमारी माध्यमिक शिक्षा में इतिहास और भूगोल को छोड़ अन्य विषयों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं

दिया गया। इतिहास की पुस्तकें निरर्थक तथा अनुपयोगी वर्णन से भरी रहती हैं जो बालकों को कण्ठस्थ कराया जाता है। भूगोल की शिक्षा में भी यह देखा गया है कि अनुपयोगी बातों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। एक विशेष रेलवे लाइन के सारे स्टेशन बालकों को कंठस्थ कराना अगर भूगोल की शिक्षा में आता है तो ऐसे भूगोल से बालकों को क्या लाभ ? इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के इस अंश में विशेष सुधार की आवश्यकता है और पाठ्य पुस्तकों को विस्तृत दृष्टिकोण से, वैज्ञानिक तरीके पर तैयार कराने की भी नितान्त आवश्यकता है।

शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य है मनुष्य को देवता बनाना। उसकी स्वाभाविक कमजोरियों और कमियों की पूर्ति करना; उसकी अतृप्त इच्छाओं और मानसिक भूख से मनुष्य को मुक्ति दिलाना।

इतर प्राणियों के मुकाबले में मनुष्य को सोचने-विचारने की शक्ति मिली है। उसके द्वारा वह अज्ञात को जानना चाहता है। प्रकृति का रहस्य पाना मनुष्य की विचार-शक्ति पर ही निर्भर रहा है। विचार द्वारा ही मनुष्य ने गणित, दर्शन-शास्त्र, विज्ञान तथा ज्ञान के अन्य अंगों का सृजन किया जिससे हमें अपने भूतकाल का ज्ञान प्राप्त होता है और भविष्य के बनाने में सहायता मिलती है।

हमारी मस्तिष्क की इस शक्ति को विकसित करना उचित शिक्षा का ही काम है। बुद्धि द्वारा हम अपने दैनिक जीवन को विशिष्ट

तरीके पर चलाने के लिये प्रयत्नशील हो सकते हैं। जहां एक अविचारी मनुष्य इधर से उधर भटकता फिरता है और उसकी नाव लहरों से टकराती इधर-उधर भटकती हुई किनारे पर लग सकती है और डूब भी, वहां एक विचारशील तथा विज्ञ व्यक्ति अपनी भावनाओं और प्रवृत्तियों के बवंडर से निकालकर अपनी जीवन-नैया को मंजिल तक ले पहुंचता है।

मस्तिष्क के विकास के साथ ही मनुष्य की इन्द्रियों और भावनाओं के शिक्षित करने की भी आवश्यकता पड़ती है। एक व्यक्ति अच्छा गाना सुनता है और उसकी प्रशंसा करता है, उसमें रस अनुभव करता है। एक आदमी अस्त होते हुए सूर्य और प्रकृति की छटा में अतीव आनन्द पाता है और दूसरे को उसमें कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। एक आदमी क्रोध, घृणा, ईर्षा, विषय-वृत्ति तथा अपनी स्वार्थ-भावना पर अपना काबू रखता है। वह सोच-विचार कर कदम उठाता है और दूसरा अपनी इन वृत्तियों के वश में रहता है। तो अब आप ही बताइये कि इनमें से किस का विकास अधिक हुआ है। शिक्षा का उचित रूप मनुष्य की इन प्रवृत्तियों के बनाने में बड़ा सहायक होता है।

मनुष्य स्वभावतः न भला है, न बुरा। यह शिक्षा ही है जो उसमें चरित्र पैदा करती है, उसे अच्छे अच्छे संस्कारों से परिपूर्ण करती है, उसे मार्ग दिखाती है और साथ ही इस योग्य बनाती है कि वह अपना मार्ग स्वयम् भी बना सके।

जहां आरम्भ में मनुष्य के लिये यह आवश्यक होता है कि वह समाज द्वारा निर्मित नियमों का पालन करे वहां आगे चलकर अनुभव और ज्ञान द्वारा वह समाज के लिये उपयोगी नियम निर्माण करने और पुराने अनुपयोगी रीति-रिवाजों को बदलने में प्रयत्नशील होता है। आरम्भ में शिक्षा का काम जहां मनुष्य में अनुशासन पैदा करना होता है वहां बाद में वह उसे व्यक्तिगत स्वाधीनता की ओर भी ले जाती है, जिसकी प्राप्ति मनुष्य अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता है और जिसकी प्राप्ति के लिये कई बार वह अपने जीवन तक की बाजी लगाने को भी तैयार हो जाता है।

मनुष्य के अपने कुछ विशेष गुण हैं जो हमें अन्य प्राणियों में नहीं मिलते। जहां अन्य जीवधारियों का जीवन एक विशेष परिपाटी में चलता है जो प्रकृति ने उनके लिये बनाई है वहां पर मनुष्य में उन स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त निम्न गुण भी विद्यमान हैं जो अन्य प्राणियों नहीं में पाये जाते और इनका विकास ही उसे वास्तव में देवत्व की ओर लेजाता है।

प्रथम, मनुष्य में बुद्धि के होने से वह उसके द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में प्रयत्नशील होता है। वह विज्ञान की खोज करता है। वह अपने जीवन को विचारपूर्वक एक निर्दिष्ट मार्ग पर लेजाने में प्रयत्नशील बनता है। वह अपने में मानवोपयोगी व समाजोपयोगी गुणों का आविर्भाव करता है।

दूसरा, मनुष्य में अच्छे और बुरे के पहचानने की शक्ति है। उसे यह बताया जा सकता है कि अमुक काम अच्छा है, अमुक बुरा। उसे बुरे के प्रति घृणा और अच्छे के प्रति प्रेम होता है। वह उचित शिक्षा पाकर अपने जीवन को अच्छे कामों में लगाना चाहता है और उसका विकास करना चाहता है।

तीसरा, मनुष्य में सौंदर्य की भावना होती है जो अन्य प्राणियों में नहीं मिलती। एक गाय के लिये इन्द्र-धनुष का क्या महत्व ? स्वच्छ तारों से टिमटिमाते आकाश में उसके लिये क्या सौंदर्य ? सुन्दर प्राणी से उसे क्या प्रयोजन ? परन्तु विपरीत इसके मनुष्य चित्रों में, गाने में, प्रकृति के सौंदर्य में, तथा अन्य ललित कलाओं में आनन्द अनुभव करता है। वह उनका निर्माण करता है और उनमें स्वयम् भी आनन्द लेता है तथा दूसरों के जीवन को भी आनन्द से ओत-प्रोत कर देता है।

अतः शिक्षा मनुष्य की इन प्रवृत्तियों को परिमार्जित करती है। वह स्वाभाविक मनुष्य से उसे ऊपर उठाती है, उसके जीवन में सुधार करती है, उसे उसके परम विकास की ओर लेजाती है जिसमें वह अपने जीवन की इतिश्री पाता है।

मानव जीवन का इस दृष्टि-कोण से पूर्ण विकास ही शिक्षा का परमोद्देश्य है जिस पर हमारे करोड़ों भारतीयों की शिक्षा की योजना स्वाधीन भारत द्वारा निर्मित होनी चाहिये।

बालकों का विकास और उनकी शिक्षा

शिक्षित माता-पिताओं के लिए बालकों का विकास और उनकी शिक्षा किस ढंग पर हो यह समस्या विशेष रूप में बनी रहती है। बालकों की बचपन की रुचि को देखकर उसी पर उनके भावी विकास और शिक्षा की नींव डालना कहां तक ठीक हो सकता है, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कारण, बालकों की आयु के साथ उनकी रुचि में भी परिवर्तन होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ बालक ऐसे भी देखने में आते हैं, जिनकी प्रवृत्ति आरम्भ से ही किसी विशेष ओर होती है और उनकी यह रुचि आवश्यक साधन मिलने पर विशेष योग्यता में परिवर्तित की जा सकती है। यह गणित, गायन, कविता वगैरह के विषय में विशेष रूप में देखने को मिलता है। प्रत्येक प्रवृत्ति के बारे में, जो बालक में उदय होती है, यह सत्य नहीं है। अतः माता-पिताओं को चाहिए कि बालक की प्रत्येक प्रवृत्ति को बिना सोचे-समझे जन्म-प्रदत्त समझ कर व्यर्थ में धन, समय और शक्ति का अपव्यय न करें।

बच्चों की प्रवृत्तियों के प्रकट होने और उनके स्थायित्व का

निश्चय हो जाने पर उनके विकास के लिये साधन उपस्थित करना भी परमावश्यक है। बहुधा यह देखने में आता है कि माता-पिता इसकी अवहेलना कर जाते हैं, अथवा कई प्रवृत्तियों को अपनी अरुचि रहने पर दबा भी देते हैं। चाहिए तो यह कि बालक की रुचि को देखा जाय और अपनी देख-रेख में उसको विकसित होने दिया जाय। जब यह स्पष्ट हो जाय कि बालक की रुचि विशेष रूप में उस ओर है, तो आवश्यक साधन उपस्थित किए जायं।

बालकों के यथेष्ठ विकास के लिए साधन मिलना नितान्त आवश्यक है। साधन न रहने पर जन्म-जात रुचि भी पनप नहीं पाती। कई बार ऐसा होता है कि बालकों की योग्यता माता-पिता जान ही नहीं पाते। उनकी रुचि जब किसी नई दिशा की ओर होती है, तो शिक्षक और अभिभावक उसका मूल्य नहीं आँक पाते। कई ऐसे विद्यार्थी होते हैं, जो स्कूल में हमेशा अन्य विद्यार्थियों से पिछड़े रहते हैं, पर बड़े होने पर विशेष योग्य सिद्ध होते हैं। डार्विन का विद्यार्थी-जीवन इसी प्रकार का था। वह स्कूल में हमेशा अन्य विद्यार्थियों से पीछे रहता, परन्तु उसे स्कूल के बाहर घूमने, तितलियां पकड़ने, कीड़े-मकोड़े इकट्ठे करने और प्रकृति-निरीक्षण करने में विशेष आनन्द आता था। अपनी इसी रुचि के कारण वह अपने काल में एक लब्ध-प्रतिष्ठ वैज्ञानिक बना।

साधन और योग्यता के अतिरिक्त किसी विषय का विद्वान बनने

के लिए किसी मार्ग को चुनकर उस पर दत्तचित्त होकर लगे रहना भी आवश्यक है। ऐसा देखने में आया है कि जो व्यक्ति केवल धन अथवा वाहवाही के लिए किसी काम में आजीवन जुटे रहे हैं, वे अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर पाए। जिनकी भावना अपने प्रतिपक्षी को हराकर प्रसिद्धि पाने की रही है, वे बड़े जनरल नहीं बन सके और न ही यह देखने में आया है कि जो धन अथवा प्रसिद्ध के लिए गाने या चित्रकला में गए हैं, वे अधिक सफल हो सके हैं। यह आवश्यक है कि मनुष्य जिस काम को हाथ में ले, उसमें जी-जान से लग जाय, तब उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिलती है। जिन बालकों में इस प्रकार की लगन देखने में आती है, वे भविष्य में पूर्ण सफलता प्राप्त करते हैं।

जहाँ पर किसी विषय-विशेष के प्रति इस प्रकार की लगन देखने में आती है, वहां यह भी देखा जाता है कि जन्म-जात योग्यता की इतनी आवश्यकता नहीं पड़ती। यह आवश्यक नहीं कि उसमें इतनी योग्यता हो ही। योग्यता धीरे-धीरे अपने-आप आ जाती है। राकफ़ेलर के बारे में कहा जाता है कि जब वह बच्चा ही था, तो उसके माता-पिता निर्धन होने पर भी उसे हफ्ते में दस सेण्ट दिया करते थे। एक बार एक किसान उनके घर आया और उसने ५० डालर ७ प्रतिशत ब्याज पर उधार मांगे। बालक राकफ़ेलर खड़ा-खड़ा सुन रहा था। उसने अपने बाप से पूछा कि ब्याज किसे कहते हैं? इसका सन्तोष-

जनक उत्तर पाने पर उसने कहा कि वह ५० डालर उधार दे सकता हूं। यह सुनकर उसका बाप आश्चर्य में पड़ गया। उसने पूछा कि इतने डालर उसे कहां से मिले? बालक ने कहा कि उसने उन्हें थोड़ा-थोड़ा करके जमा किया है। ऐसे बालकों के बारे में यह सहज ही कहा जा सकता है कि बड़े होने पर वे धनाढ्य व्यक्ति होंगे।

यह भी देखने में आया है कि जो बालक अन्य बालकों से कुछ अलग से रहते हैं, जिन्हें अकेलापन अच्छा लगता है और जिनकी देख-रेख भली भांति नहीं हुई है, उन्होंने जीवन में अधिक सफलता प्राप्त की है। इसका कारण उनकी एकान्त प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि एकान्त जीवन व्यतीत करने के कारण उनको अपनी रुचियों के विकास का क्षेत्र मिल जाता है। सभ्यता के इस युग में जहां एक ही प्रकार की शिक्षा, खेल-कूद वगैरह का प्रबन्ध होता है, बालकों की नैसर्गिक रुचियों को आवश्यक प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। जिन बालकों का लालन-पालन धनाढ्य घरों में होता है, उनकी योग्यता प्राप्त करने की प्रवृत्तियां दब जाती हैं। उनके अन्दर चरित्र-निर्माण की यह विशेषता देखने में नहीं आती और न उनका चरित्र ही इस दृष्टिकोण से विकसित हो पाता है।

शिक्षा का उद्देश्य बच्चों की विशेष प्रवृत्तियों के विकास को प्रोत्साहन देना होना चाहिए, न कि सबको पशुओं की तरह एक ही सांचे में ढालना। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की

स्वतन्त्रता पाकर कुछ बालक समाज के लिए कष्टकर सिद्ध होंगे ; परन्तु जहां एक भी असाधारण योग्यता का व्यक्ति समाज को मिल गया, तो वह ऐसे कई बालकों द्वारा किए गए अनिष्ट को पूरा कर देगा। जो समाज योग्य और बड़े व्यक्तियों का निर्माण करना चाहता है, उसे चाहिए कि बच्चों को इतनी स्वतन्त्रता दे कि उनमें सोचने और अनुभव करने की प्रवृत्ति का विकास हो। कई बालकों में यह स्वतन्त्र रुचि बालपन में गोचर भी होने लगती है। अपने अन्य समवयस्क बालकों की तरह सोचना और अनुभव करना उन्हें साधारण पुरुषों की श्रेणी में ही रख सकेगा, विशेष योग्य वे नहीं बन सकेंगे। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य यह नहीं होना चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति ही पैदा करे, जो केवल साधारण हों, चाहे उनकी साधारण योग्यता दोषरहित हो क्यों न हो ×।

× विशाल भारत जून १९४६ में प्रकाशित।

हमारा पड़ोसी पाकिस्तान

भारत को टुकड़ों में बांटने की नीति ब्रिटिश सरकार ने कई वर्षों से अपना रखी थी। भारत से बर्मा और सीलोन और अदन को अलग किया गया। उसके बाद प्रान्तों को विशेष अधिकार देकर केन्द्र को कमज़ोर किया गया और बाद को १५ अगस्त १९४७ को पाकिस्तान (पाकिस्तान भी पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में बंटा हुआ है जिनमें सैंकड़ों मीलों का अन्तर है) और हिन्दुस्तान की दो अलग अलग रियासतें बना और अपनी विभाजन नीति के अनुसार भारत को दुर्बल कर ब्रिटिश ने उन्हें औपनिवेशिक स्वराज्य देकर प्रत्यक्ष रूप में अपने आपको पाकिस्तान और हिन्दुस्तान से अलग कर लिया है।

विभाजन की इस नीति में ब्रिटिश ने अपने स्वार्थ को प्रमुख स्थान दिया। पाकिस्तान की रियासत का आधार मुसलमानों की धार्मिक भावना को रखा। मुस्लिम लीग ने ब्रिटिश सरकार से मिलकर भारत के साथ जो विश्वासघात किया है वह भारतीय इतिहास के पृष्ठों में एक काल विशेष तक मोटे मोटे अक्षरों में लिखा रहेगा।

पाकिस्तान को बने हुए लगभग छः मास होगये हैं। इन छः

महीनों में मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य सब धर्मावलम्बियों को मजबूरन वहां से निकाला जा रहा है। पश्चिमी पंजाब सब से पूर्व अन्य धर्मावलम्बियों से खाली किया गया। उसके बाद उत्तर-पश्चिम प्रान्त की बारी आई और अब सिन्ध तथा पूर्वी बंगाल से भी विशेषकर हिन्दुओं को तथा अन्य धर्मावलम्बियों को निकाला जा रहा है। पाकिस्तान की (अन्य धर्मावलम्बियों को अपनी रियासत से निकालने की) इस नीति का परिणाम यह होगा कि साल-दो साल में ही पाकिस्तान की रियासत केवल मुसलमानों के लिये ही रह जायगी। अगर कुछ अन्य धर्मावलम्बी वहां रहे भी तो कम से कम हिन्दू वहां नहीं रह सकेंगे, पाकिस्तान की नीति से यह स्पष्ट ही झलकता है।

पिछले एक साल में जो हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक झगड़े के कारण कत्लो-आम हुआ है तथा जो जो मुसीबतें दोनों पक्ष के लोगों को भुगतनी पड़ी हैं और जिनकी सारी जिन्दगी ही बरबाद होगई है क्या वे आपस के अपने इस मनोमालिन्य को इतनी आसानी से भुला सकते हैं? हां, भुलाया जा सकता है परन्तु वह केवल एक रियासत के प्रयत्न से नहीं, परन्तु दोनों ओर से प्रयत्न होने पर। मैं इसे इतना आसान नहीं समझता। इसके कई कारण हैं:—

(१) मजहबों के आधार पर दो रियासतें बनाई जाना, और उनका एक-दूसरे के पड़ोस में होना।

(२) हिन्दू और मुसलमानों को लड़ाने के लिये

पाश्चात्य राष्ट्रों द्वारा अन्य छोटे छोटे मुस्लिम राष्ट्रों तथा पाकिस्तान को भड़काकर 'इस्लाम खतरे में' का नारा लगवाना और हिन्दुस्तान के मुसलमानों को भड़काना तथा उनमें हिन्दुस्तान के प्रति सच्ची सहानुभूति पैदा होने से रोकना।

(३) पाकिस्तान की रियासत केवल मुसलमानों के लिये होना, परन्तु हिन्दुस्तान में ३०-३१ करोड़ अन्य धर्मावलम्बियों के अतिरिक्त, जिनमें विशेषकर हिन्दू हैं, चार करोड़ के करीब मुसलमानों का रह जाना जो पाकिस्तान को अपना घर समझते हैं और कभी भी जा सकते हैं। अतः हिन्दुस्तान के सच्चे नागरिक वे कभी भी नहीं बन सकेंगे। पाकिस्तान के विस्तार के लिये वे सदैव परोक्षरूप में प्रयत्नशील रहेंगे।

(४) पाकिस्तान में राज्य का आधार कुरान की शरायतें तथा अपने पड़ोसी हिन्दुओं के प्रति कुफ्राना व्यवहार, उसकी शिक्षा और मजहबी जोश को मुसलमानों में भरना तथा उसे पनपने देना।

(५) हिन्दुस्तान की वर्तमान सरकार का मुसलमानों को बड़े बड़े और मार्के के ओहदों पर रखना, उन्हें विशेष सहूलियतें देना तथा उनके प्रति रियायत का व्यवहार जो हिन्दुओं को आंख के रोड़े की भांति खटकेगा। हिन्दुओं को यह डर है कि आज की रियायतों को कल वे अपने अधिकार न समझने लगें, और अधिक अधिकारों के लिये अपनी

आवाज़ बुलन्द करें।

(६) हिन्दुस्तान के मुसलमानों से धर्मान्धता को दूर करने के लिये सरकार की ओर से कोई सतत् प्रयत्न न होना।

(७) कांग्रेस का मुसलमानों के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार तथा आवश्यकता पड़ने पर राजनैतिक शक्ति या राज्य-प्रबन्ध को चलाने के लिये मुस्लिम लीग (बम्बई कॉरपोरेशन के चुनाव में स्थानीय कांग्रेस पार्टी और मुस्लिम लीग में समझौता हो गया था) से समझौता करने के लिये तैयार रहना।

आज हिन्दुस्तान में मुसलमान अपने को कमजोर पाते हैं, परन्तु क्या भविष्य में भी वे कमज़ोर बने रहेंगे? चार करोड़ मुसलमान भारत में होते हुए, तथा कई उनमें से अच्छे अच्छे सरकारी ओहदों पर होते हुए, कुछ विशेष रियायतें तथा सहूलियतें पाकर क्या यह सम्भव नहीं हो सकेगा कि वे फिर अपनी शक्ति को बना लें? उनकी शक्ति बनाने में पाकिस्तान का हाथ भी कम नहीं रहेगा। वह परोक्ष रूप में हमेशा ही भारतीय मुसलमानों का पुष्टपोषण करेगा। भारत के मुसलमान भी पाकिस्तान के निकट ही अपने आपको समझते रहेंगे।

पाकिस्तान को एक कमजोर रियासत कहा जाता है। वैसे हिन्दुस्तान के मुकाबले में है भी वह काफ़ी कमज़ोर। उसकी यह कमजोरी ही उसे बलशाली बनने की प्रेरणा दे रही है। उसकी इस कमज़ोरी में उसके मददगार कई अन्य पाश्चात्य

राष्ट्र हैं, जिनमें प्रमुख इंगलैंड तथा अमेरिका हैं। पाकिस्तान को इन दो देशों की ओर से प्रत्येक प्रकार की आर्थिक तथा शस्त्रास्त्र की सहायता मिलने की आशा है। साथ ही मजहब के नाम पर छोटे-मोटे अन्य मुस्लिम राज्य भी हैं जो किस न किसी रूप में इसको मदद देंगे। सहानुभूति तो उनकी अवश्य ही रहेगी। इस प्रकार अमेरिकन तथा इंगलिश पूंजी के आधार पर तथा अन्य मुस्लिम देशों से माल लेकर पाकिस्तान अपनी उन कमियों को पूरा कर लेगा जिनके लिये अभी तक वह हिन्दुस्तान पर निर्भर था।

पाकिस्तान की बढ़ती हुई जन-संख्या के लिये उसे और जगह की भी जरूरत पड़ेगी। वहां की जन-संख्या हिन्दुस्तान के मुकाबले में अधिक शीघ्रता से बढ़ेगी। अधिक सन्तानों को जन्म देना उनके लिये धार्मिक आदेश है। फिर अशिक्षा, रहने के तरीके तथा पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान की जलवायु इसके बढ़ने में विशेष सहायक होंगे। इस प्रकार जन-संख्या के बढ़ने पर उसके फैलने को जगह भी चाहिये। वह जगह कहां से आयेगी ? एक ही ओर गुंजायश है—वह है हिन्दुस्तान, जहां पर उनकी बड़ी बड़ी मसजिदें, बड़े बड़े मकबरे वगैरह हैं तथा जहां पर उनका राज्य कई सौ सालों तक रहा है। और जहां उनके सहधर्मी चार-पांच करोड़ रहते हैं। अगर कई कारणों से हिन्दुस्तानी मुसलमान हिन्दुस्तान में रहना अपने लिये अरुचिकर पायेंगे तो वे पाकिस्तान में जाकर उसे फैलाने में

मदद करेंगे। विपरीत इसके हिन्दुओं का पाकिस्तान में जाना अब असम्भव सा ही होगया है। उनके लिये हिन्दुस्तान के अतिरिक्त और कोई देश ही नहीं जहां वे जासकें।

हिन्दुस्तान का डर भी अपने पड़ोसी से सच्चा है। हिन्दुओं की राष्ट्रीयता की भावना से अंग्रेज सदैव डरते रहे। कांग्रेस ने जिसमें ६५ प्रति शत हिन्दू थे उन्हें मजबूर किया कि वे भारत छोड़ दें। उसके कमजोर बनाने के लिये उन्होंने पाकिस्तान को जन्म दिया। उसे शत्रु बनाकर जन्म दिया। परोक्ष में रहकर वे हमारे शत्रु को मजबूत कर रहे हैं। काशमीर के युद्ध में भी, कहा जाता है, उनकी ओर से पाकिस्तान को तथा आजाद काशमीर सरकार को सहायता मिल रही है। अमेरिका तथा इंगलैंड संयुक्त-राष्ट्र-संघ की ओट में पाकिस्तान की ओर झुके हुए हैं। काशमीर को, जो सरहद पर होने के कारण हमारे लिये देश की रक्षा की दृष्टि से अत्यावश्यक है, हमारे हाथ से छीनने का पूरा प्रयत्न हो रहा है। दक्षिण में सीलोन है जिसे स्वतंत्र कर अंग्रेजों ने अपने लिये एक जहाजी अड्डा बना लिया है। पूर्व में बर्मा तथा पूर्वी पाकिस्तान की स्वतंत्र रियासतें बना दी हैं। समुद्री बेड़ा अब भी उनका संसार में सब से बड़ा है। इस प्रकार हम चारों ओर से घिर से गये हैं। सबसे अधिक खतरे की बात हमारे लिये जो की है, वह है पाकिस्तान को शत्रु के रूप में उत्तर-पश्चिम तथा पूर्व की सरहदों पर बैठाना और उसकी मदद करना तथा उत्तेजित करना।

[हमें इंगलैंड और अमेरिका वगैरह से इतना डर नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में वे हमारे शत्रु बनकर हमारे मुकाबले पर इतनी शीघ्रता से नहीं आयेंगे। उन्हें अपने व्यापार वगैरह के लिये हिन्दुस्तान की जरूरत अभी कई सालों तक बनी ही रहेगी, परन्तु परोक्ष रूप में हमें दुर्बल बनाये रखने के लिये वे राजनैतिक चालें चलते ही रहेंगे। इंगलैंड की राजनीति के सामने रूस को छोड़कर प्रत्येक को अभी तक अपना सिर झुकाना पड़ रहा है। अमेरिका भी अब राजनीति के सबक़ इंगलैंड से ले रहा है। अतः इन दोनों राष्ट्रों से हमें राजनैतिक दाव-पेंच से ही निबटना पड़ेगा और इसके लिये हमें राजनैतिज्ञ बनाने पड़ेंगे जो राजदूतों के रूप में विदेशों में जाकर भारत को शक्तिशाली बनाने तथा सुरक्षित रखने के लिये प्रयत्नशील रहें।]

अब रहा हमारा पड़ोसी पाकिस्तान— इससे हम कैसे निबटें ? हमारे दूसरे पड़ोसी हैं चार करोड़ मुसलमान जो मौखिक सहानुभूति हिन्दुस्तान की सरकार को देते हैं पर हार्दिक सहानुभूति इस्लाम तथा पाकिस्तान को।

हम ऊपर लिख आये हैं कि पाकिस्तान का जन्म हमारे शत्रु के रूप में हुआ है। मुस्लिम लीग को हमने राष्ट्रीय दृष्टि से शत्रु के रूप में देखा। पाकिस्तान के मुसलमान तथा हिन्दुस्तान के मुसलमान भी हिन्दुओं को वास्तव में शत्रु के रूप में देखते हैं। अतः इन शत्रुओं से कैसे निबटा जावे।

भारतीय मुसलमानों से सुलझने के लिये हमें उनकी

धर्मान्धता को नष्ट करना होगा। उनके जीवन से धार्मिकता हमें इतनी कम कर देनी होगी तथा राष्ट्रीयता इतनी उनके अन्दर भरनी होगी कि धर्म के नाम पर कोई बाहरी देश उनसे कोई फायदा न उठा सके। इसके लिये वृहत् प्रयत्न की जरूरत है और यह प्रयत्न उसी वृहत् प्रयत्न का एक अंग होगा जो हिन्दुओं में से भी धर्मान्धता बहुत-कुछ कम कर दे; परन्तु निस्सन्देह धर्मान्धता मुसलमानों में अधिक पाई जाती है और उनसे राज्य को भविष्य में खतरा भी अधिक है। इसलिये इस ओर प्रयत्न भी जोरदार होना चाहिये।

इसके लिये यह जरूरी है कि नई मसजिदों का बनना प्रायः बन्द सा कर दिया जाय। जो मसजिदें वीरान होगई हैं, तोड़-फोड़ डाली गई हैं; उनको फिर से आबाद करने का प्रयत्न सरकार द्वारा न हो। जब कई मुसलमान हिन्दुस्तान को छोड़कर पाकिस्तान में चले गये हैं तो इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं रह जाती। इन पुरानी टूटी-फूटी वीरान मसजिदों को सरकार अपने कब्जे में लेकर या तो अभी कुछ काल के लिये इन्हें सुरक्षित स्थान' घोषित कर दे अथवा उनको अधिक समाजोपयोगी कामों में ले आवे। ब्रिटिश सरकार की हुकूमत में मुसलमानों ने उनकी शह पाकर स्थान स्थान पर आवश्यकता से अधिक मसजिदों का निर्माण किया और कई ऐसी मसजिदें तथा कब्रें हैं जो सड़कों तथा पटरियों पर पड़ती हैं और आने-जाने में बाधा डालती हैं।

मुसलमानों की वेष-भूषा तथा शिक्षा में भी श्रेष्ठ नागरिक बनाने के दृष्टिकोण से परिवर्तन आवश्यक है। मसजिदों तथा मुल्लाओं द्वारा दी गई शिक्षा बन्द कर दी जानी चाहिये और साथ ही भारत की राष्ट्रीय भाषा हिन्दी का ज्ञान तथा उसके प्रति प्रेम उनके अन्दर भरना नितान्त आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि भविष्य में भारतीय मुसलमान भारत के अन्य धर्मावम्बियों के अधिक निकट आजावें, अपना विशेष वर्तमान प्रथकत्व न बनायें रहें।

अगर यहां के मुसलमान राज्य द्वारा किये गये इस प्रयत्न को अपने धर्म में अत्यधिक दस्तन्दाजी समझते हैं और वे इसे मानने को तैयार नहीं तो उनके वास्ते सिवाय इसके और कोई रास्ता नहीं कि वे हिन्दुस्तान को छोड़ दें और पाकिस्तान में जाकर बस जावें। उन्हें असामाजिक धार्मिक सहूलियतें तथा विशेष राजनैतिक तथा आर्थिक सहूलियतें देकर बसाना किसी दृष्टि से भी उचित नहीं।

इस प्रकार सब मुसलमान पाकिस्तान में जाना पसंद करेंगे, मैं नहीं मानता। टर्की में जब उनके धर्म और भाषा पर कमालपाशा ने आघात किया था तो मुसलमानों ने उसे स्वीकार किया। वे टर्की छोड़कर भागे नहीं। अतः यह आवश्यक नहीं कि राज्य द्वारा श्रेष्ठ नागरिक बनाने के प्रयत्न को वे न मानें और हिन्दुस्तान छोड़ने को ही अपने लिये उचित समझें। केवल वे मुसलमान ही जावेंगे जो वास्तव में मजहब के आगे अन्य सुविधाओं को कुछ नहीं

गिनेंगे। ऐसे मुसलमान जितनी जल्दी भारत छोड़ दें उतना ही अच्छा है।

इसके बाद जो मुसलमान भारत में रहेंगे उनमें और हिन्दुओं तथा अन्य धर्मावलम्बियों में इतनी समानता आजायेगी कि वे हिन्दुस्तान को अपना देश समझने लगेंगे और पाकिस्तान तथा अन्य मुस्लिम देशों द्वारा वृहत् प्रयत्न भी उन्हें धर्म के नाम पर उधर नहीं झुका सकेगा। वे केवल नाम के मुसलमान होंगे, वे सच्चे भारतीय होंगे और उनकी धर्मान्धता कम होने के साथ ही हिन्दू-धर्मान्धता जो उसके प्रतिफल के रूप में है अपने आप नष्ट हो जावेगी।

मैं यहां पर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं उन्हें अच्छे नागरिक बनाना चाहता हूं, कट्टर या नाम धारी हिन्दू नहीं। हिन्दुओं के कई प्राचीन परन्तु निरर्थक रीति-रिवाजों के मैं उतना ही खिलाफ़ हूं जितना मुसलमानों, या पार्सियों या अन्य धर्मावलम्बियों के ऐसे ही रिवाजों के। हमें भारतीय जीवन से धर्मान्धता नष्ट करनी होगी, उनके अन्दर से धार्मिक अन्तर बढ़ाने वाली रस्मो-रिवाजों को कम करना होगा, उन्हें श्रेष्ट नागरिक बनाना होगा और उसकी शिक्षा देनी होगी। हमें उन्हें विचारशील नागरिक बनाना होगा न कि अन्धभक्त।

हिन्दुस्तान की वर्तमान सरकार के कर्णधार इस ओर इस दृष्टि से प्रयत्न करें तो, मैं समझता हूं, हम भारत का वास्तविक हित-साधन करेंगे और एक समस्या को बहुत कुछ हल कर लेंगे।

पाकिस्तान से हम किस प्रकार निबटें, यह टेढ़ी खीर है। इसके लिये हमें अपनी शक्ति विकसित करनी होगी।

शक्ति का विकास हम इसलिये कदापि भी नहीं करना चाहते कि हम बैठे-ठाले पाकिस्तान से लड़ाई मोल ले लें। गीताकार कृष्ण ने सब ओर से विफल होकर अन्तिम रूप में महाभारत रचाया था। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि शक्ति पैदा करते ही हम गरीब, निर्धन तथा दुर्बल और छोटे छोटे राज्यों को हड़प करने के लिये अपनी शक्ति का उपयोग करें। इस रूप में और इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण उतना उपादेय नहीं होगा, जितना अपनी रक्षा के निमित्त तथा इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर कि हम अन्तिम अवस्था में ही, अन्य सब प्रयत्नों के विफल होने पर, अपने उचित अधिकारों की रक्षा के लिये, अपने पड़ोसी या अन्य किसी देश के प्रति हथियार उठायेंगे।

भारतीय सरकार इतनी शक्ति को विकसित किस प्रकार करे? वह केवल फौज और पुलिस बढ़ाकर तथा हवाई और समुद्री बेड़े बनाकर या अन्य शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्र बनाकर अपनी शक्ति का पूर्ण विकास नहीं कर सकती। उनके पीछे बल होता है बलवान, बुद्धिशील, कुशल, निस्वार्थी, देश के प्रति अटल प्रेम को रखने वाले व्यक्तियों का। इस प्रकार के व्यक्ति सरकार को कुछ थोड़े से पारसियों, ईसाईयों या मुसलमानों से नहीं मिल सकते। ये व्यक्ति, उन्हें अपनी ६० प्रति शत जन-संख्या

से ही, जो हिन्दू हैं, मिल सकेंगे। इसलिये हिन्दुओं का पूरा सहयोग प्राप्त करने के लिये उपरोक्त आधार पर सरकार को अपनी नीति स्पष्ट करनी होगी। एक बार सरकार की ओर से उपरोक्त दृष्टिकोण से अपनी नीति स्पष्ट होने पर उसे सुयोग्य व्यक्तियों का वास्तविक सहयोग तथा फौज और पुलिस का भी पूरा सहयोग मिल सकेगा। वे देश के लिये लड़ना और मरना सीखेंगे। जिन्हें हिन्दू शत्रु के रूप में देखते हैं उनके प्रति सरकार का मित्रवत् व्यवहार हमेशा ही उनके दिलों के कोने में खटकता रहेगा और इसलिये सरकार को पूर्ण सहयोग उनसे नहीं मिल सकेगा—यह देश का बड़ा भारी दुर्भाग्य होगा।

राष्ट्रीय-स्वयम्-सेवक-संघ, मुस्लिम नैशनल गार्ड वगैरह को गैरकानूनी संस्थायें घोषित कर जहां सरकार ने धर्मान्धता कम करने की कोशिश की है वहां उसके साथ ही जो बीजरूप से भारतीयता के शत्रु हैं उनके प्रति भी सरकार को अपना उचित कर्तव्य पूरा करना चाहिये।

स्वतन्त्रता की लड़ाई में इने-गिने मुसलमान कांग्रेस के साथ रहे हैं। उनके प्रति कांग्रेस-सरकार राज्य में ऊंचे-ऊंचे पद देकर ही केवल अपना कर्तव्य अदा नहीं कर सकती। वह अपना कर्तव्य उन्हें जीवन-पर्यन्त की अन्य जीवनोपयोगी सुविधायें देकर परन्तु सरकारी ऊंचे पदों से अलग रखकर भी कर सकती है। भारत के प्रति सच्चा प्रेम रखने वाले मुसलमान कदाचित अभी कुछ दिनों तक, स्वयम् बड़े बड़े सरकारी ओहदों से अलग

होकर देश के शक्तिशाली बनाने में अगर सहायक हो सकें तो क्या यह अधिक वांच्छनीय नहीं होगा। उनके पास अपने जाति-भाइयों को सच्चे भारतीय और सुयोग्य नागरिक बनाने का वृहत कार्य है ही, जो सरकार से उचित सहयोग पाकर वे कर सकते हैं।

राजदूतों के रूप में मुस्लिम देशों में मुसलमान राजदूतों को भेजना राजनैतिक दृष्टि से, मैं समझता हूं, अभी उचित नहीं। प्रथम तो, राजदूत सब देशों में ही मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बी जाने चाहियें ताकि उनका देश-प्रेम हिन्दुस्तान के अतिरिक्त और किसी देश से न रहे। मुसलमानों के बारे में अभी हमें सतर्क रहने की जरूरत है। हमारे मुस्लिम राजदूत, सम्भव है, अपना उचित कर्तव्य हिन्दुस्तान के प्रति उस लगन से न पाल सकें, जिस लगन से अन्य धर्मावलम्बी जो एक ही देश के नागरिक हैं, पाल सकेंगे। हिन्दुस्तान का मुसलमान पाकिस्तान का नागरिक किसी समय भी बन सकता है। अतः यह समझा जा सकता है कि वह हिन्दुस्तान के मुकाबले में पाकिस्तान को हानि पहुंचाने से पूर्व कई बार सोचेगा और अपनी नीति को स्वभावतः ही इस रूप में बनायेगा कि जिससे पाकिस्तान को कोई नुकसान न पहुंचे, चाहे भले ही हिन्दुस्तान का कोई फायदा होता हुआ रुक जावे। यह संस्कारों के कारण स्वतः ही सम्भव हो सकता है जिसके लिये व्यक्ति विशेष अनजाने दोषी भले ही ठहरे।

अभी जब तक पाकिस्तान से हमारा प्रत्येक विषय पर

१५-२० साल के लिये अच्छी तरह समझौता नहीं हो जाता और जब तक भारत के मुसलमान यहां के सच्चे नागरिक नहीं बन जाते तब तक पुलिस, फ़ौज, रेल, तार, डाक वगैरह तथा ऐसी ही अन्य मार्के की जगहों पर उन्हें रखना उचित नहीं। विशेष तौर पर केन्द्रीय सरकार को इस दृष्टि से बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है क्योंकि भारत की रक्षा की पूरी जिम्मेदारी उस पर है। प्रान्तीय सरकारें सतर्क रहते हुए भी योग्यता के आधार पर पद इन्हें दे सकती हैं।

परन्तु काशमीर की स्थिति अन्य प्रान्तों से भिन्न है। वहां की जन-संख्या लगभग ८० प्रति शत मुस्लिम है। वहां का शासन मुसलमानों के सहयोग के बिना आसानी से नहीं चल सकेगा। वहां मुसलमान राज्य के ऊंचे से ऊंचे पद पर भी रहेंगे परन्तु यह आवश्यक नहीं कि काशमीर को अपने साथ रखने के लिये हम अन्य प्रान्तों में या केन्द्र में मुसलमानों को विशेषाधिकार दें अथवा मार्के की जगह दें। काशमीर के लिये भी इतना महंगा सौदा हमें करने की जरूरत नहीं।

सरकार प्रचार द्वारा थोड़े काल के लिये जन-साधारण की भावनाओं को दबाने में सहायक हो सकती है, विशेषकर प्रजातंत्र सरकार इसमें अधिक काल के लिये सफल नहीं हो सकती। निर्वाचन के समय लोग उस सरकार को, जो उनकी उचित भावनाओं के विपरीत जाती है, अलग कर देते हैं। यह कई देशों के निर्वाचन में देखा गया है। बम्बई के कारपोरेशन के

निर्वाचन में, कांग्रेस से अलग किये जाने पर, गांधी जी के कत्ल होने के बाद भी, सोशलिस्ट पार्टी क़ाफ़ी सफल रह सकी। कांग्रेस-पार्टी को क़ाफ़ी मात खानी पड़ी। इसलिये प्रचार के द्वारा या जनता की कोई विशेष भावना को जगाकर भी कांग्रेस-सरकार, मुझे सन्देह है, अधिक काल के लिये अपनी वर्तमान नीति द्वारा देशवासियों को अपने साथ लेकर शक्तिशाली राष्ट्र बनाने में सफल हो सकेगी।

काशमीर में भारतीय-सरकार हमलावरों के ख़िलाफ़ लड़ रही है। आज़ाद काशमीर सरकार को सहायता पाकिस्तान से मिल रही है, इसे भारतीय सरकार ने भी स्वीकार कर लिया है। संयुक्त राष्ट्र में काशमीर का मामला ले जाने पर भी भारतीय सरकार ने पाकिस्तान का हाथ उसमें बतलाया। वह परोक्ष रूप में पाकिस्तान से लड़ रही है। पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान की ओर से हिन्दुस्तानी गांवों पर उनकी फौजों के हमले होते ही रहते हैं। देश का विभाजन इतने अप्राकृतिक तरीके से किया गया है कि कोई न कोई कारण लड़ाई का पैदा होता ही रहेगा। इन घटनाओं के आधार पर, मैं समझता हूं, कदाचित निकट भविष्य में अपनी रक्षा के निमित्त हमें पाकिस्तान से लड़ना ही पड़े। हम भले ही लड़ाई शुरू न करें, हम भले ही कितना ही बचने का प्रयत्न करें, हम भले ही यह समझते रहें कि लड़ाई में हमें भारी नुक्सान उठाना पड़ेगा, फिर भी मजबूरन भारतीय सरकार को दो दिन आगे-पीछे पाकिस्तान

की चुनौती स्वीकार करनी पड़ेगी, ऐसा प्रतीत होता है।

शक्तिशाली भारत जहां इस लड़ाई को टाल सकता है वहां इसके लिये कारण भी बन सकता। फिर भी शक्तिशाली भारत का जन्म होना ही चाहिये। संसार की नीति जिस ओर बढ़ रही है उसके लिये, शान्ति स्थापनार्थ, भी यह आवश्यक है। पाकिस्तान को लड़ाई से विमुख रखने के लिये और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। उसकी अनधिकार चेष्टायें थोड़े काल तक हम पूरी कर सकते हैं परन्तु अनिश्चित काल तक नहीं।

इस थोड़े काल में इतनी द्रुतगति से हमें अपने आपको सुदृढ़ करना चाहिये कि पाकिस्तान (उसके सहायकों को मिलाकर भी) से कई गुणा आगे हम शक्ति में निकल जावें। इतनी शक्ति के अपने में केन्द्रित करने पर फिर पाकिस्तान को सीधे रास्ते पर रखकर हम एशिया में भी शांति स्थापित करने में योग दे सकते हैं।

हमारे पड़ोस में पश्चिम और पूर्व में पाकिस्तान की मुस्लिम रियासतें बन जाने के कारण हमें बड़े सतर्क होकर रहने की जरूरत है। भारतीय मुसलमानों तथा पाकिस्तानी मुसलमानों के प्रति सहृदयता का परिचय देते हुए कहीं अन्य गैरमुसलमानों के प्रति, जो भारत के वास्तविक नागरिक हैं और जिनके लिये मानपूर्वक रहने को अन्य कोई देश नहीं, हम अन्याय न कर बैठें। गांधी जी जीवन-पर्यन्त प्रयत्न करने पर भी हिन्दू-मुस्लिम समझौता न करा सके तो पाकिस्तान की वर्तमान

नीति और इतनी खून-खराबी के बाद भारतीय सरकार, गांधी जी की मृत्यु के बाद, भारतीय मुसलमानों को कट्टर धर्मावलम्बी रखकर इस कार्य में सफल हो सकेगी, इसमें सन्देह है। भविष्य में, अपनी इस नीति के द्वारा उसे कहीं भारत का और हिस्सा न खोना पड़े जैसा कि भूतकाल की मजबूरियों तथा भूलों के कारण पाकिस्तान के रूप में संभव हुआ है।

और नई पड़ोसी मुस्लिम रियासत (पाकिस्तान) अभी हमें भी मजबूर करती है कि हम अनिच्छा रहते हुए भी मुस्लिम और गैरमुस्लिम रूप में, भारतीय राजनीति में, अभी कुछ काल तक सोचें जब तक कि हम इतने शक्तिशाली नहीं हो जाते कि पाकिस्तान और उसके स्वार्थी पाश्चात्य सहायकों को अंगूठा दिखा सकें। हमें अपनी शक्ति में पूरा विश्वास होना चाहिये और उसके विकास के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। मुस्लिम तथा पाश्चात्य राष्ट्रों को ठीक रास्ते पर लाने के लिये यह आवश्यक है।